# प्राच्यविद्यापरिशीलन

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय के व्याख्यानों एवं
निबन्धों का संकलन

*संकलनकर्त्री एवं सम्पादिका*
**डॉ. मीनाक्षी मिश्रा**
सहायक प्रोफेसर शिक्षाविभाग
श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली

*प्रकाशक*
**नैसर्गिक शोध संस्था**
३८ मानसनगर, वाराणसी
२०१०

# प्राच्यविद्यापरिशीलन

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय के व्याख्यानों एवं
निबन्धों का संकलन

*संकलनकर्त्री एवं सम्पादिका*
**डॉ. मीनाक्षी मिश्रा**
सहायक प्रोफेसर शिक्षाविभाग
श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली



*प्रकाशक*
**नैसर्गिक शोध संस्था**
३८ मानसनगर, वाराणसी
२०१०



# प्राच्यविद्यापरिशीलन

[ प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय के व्याख्यानों एवं निबन्धों का संकलन ]

*संकलनकर्त्री एवं सम्पादिका*

**डॉ. मीनाक्षी मिश्रा**

सहायक प्रोफेसर, शिक्षाविभाग

श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रियसंस्कृत विद्यापीठ,

नई दिल्ली

*प्रकाशक*

**नैसर्गिक शोध संस्था**

३८ मानसनगर, वाराणसी

२०१०

प्रकाशक :
**नैसर्गिक शोध संस्था**
**३८, मानसनगर, वाराणसी**




संस्करण : वर्ष 2010

मूल्य : 250/- (दो सौ पचास रुपये मात्र)
Price : US $ 10 (Ten us Dollars)

*मुद्रक :*
**रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड**
**कमच्छा, वाराणसी**
फोन : 0542-2455742

# विषयानुक्रमणी



# लेखकस्य परिचयः

द्युमणिं ग्रहगणपतिमिह भक्त्या प्रणिपत्य परिचयः स्वीयम्।
पाण्डेयरामचन्द्रो लिखामि सुहृदां सताञ्च सम्प्रीत्यै।।

गोमत्यास्तीरभूमौ प्रवहति हि पुरोवर्तिनी सत्तरङ्गा
गङ्गा यत्रानवद्या श्रुतिविदितगुणा विश्वधात्री वदान्या।
नादाख्या काऽप्यथान्या विलसति च सरित्पश्चिमे दिग्विभागे
ग्रामस्तत्रातिरम्यो द्विजकुलमहितो धौर्हरेति प्रसिद्धः।।२

तस्मिञ्छ्रीबलदेव इत्यभिहितः पाण्डेयविप्रः सुधी-
रासीत्कर्मविचक्षणः सुविदितो ज्योतिर्विदां मण्डले।
तस्यार्धाङ्गनिवासिनी किल "कला" नाम्नी ह्यभूत्सुप्रिया।
दम्पत्योर्नु तयोरहं समभवं पुत्रः सुवात्सल्यभाक्।।

ऋषिदुर्गाग्रहब्रह्म( 1997 ) वैक्रमीये सुवत्सरे।
चैत्रस्य धवले पक्षे दशम्यां बुधवासरे।।४

मम जन्माभवत्पूर्वसुकृतेनेह भारते।
सानुकूले सुनक्षत्रग्रहयोगान्विते क्षणे।।५

श्रीचन्द्रिकाप्रसादः पाण्डेयोऽहं तदाऽभवं नाम्ना।
पश्चाद् दत्तकविधिना प्रथितिर्मे "रामचन्द्र" इत्यभवत्।।६

दत्तकगृहीतृ तातो ममाभवद् यः स चापि पाण्डेयः।
पोक्विति लोकप्रथितः पूज्यः श्रीरूपनारायणाख्योऽसौ।।७

तद्वात्सल्यसमेधितः सरलया मात्रा च संलालितो
बाल्यादध्ययनप्रियो गुरुकृपामासाद्य विद्यामगाम्।
तत्तच्छास्त्रविचारणेन च मया त्रिस्कन्धकज्योतिषे
ह्याचार्यत्वमवाप्य तत्र पदकं स्वर्णाञ्चितं चार्जितम्।।८
तदनु च विद्यावारिधि-पीएच.डी. वेत्युपाधिमधिगम्य
काशिकराजन्यासे शोधसहायकपदे स्थितः पूर्वम् ।।९
जम्मूस्थ-राष्ट्रियं यत् संस्कृतसंस्थानमस्ति तत्र पुनः
व्याख्यातोपाचार्यश्चेति पदद्वयमशिश्रियं सम्यक्।।१०
पश्चाद्विश्वेश्वरस्य प्रगुणकरुणया प्राप्य काशीं पवित्रां
हिन्दूविद्याऽधिकेन्द्रेऽभवमहमभितः सुप्रतिष्ठः पदैः स्वैः।
अध्यक्षत्वं विभागे 'प्रमुख' इति पदं चात्र सङ्कायमध्ये
पञ्चाङ्गस्यापि 'सम्पादक' इति हि पदं लब्धवान् विश्वनाम्नः।।११
सहधर्मचारिणीं प्राप्य कल्याणीं (मङ्गलां) गृहदेवताम्
प्रवृत्तिमार्गं गार्हस्थ्यं यथाशास्त्रमवर्तयम्।।१२
तिस्रः सरोज-मीनाक्षी-सम्पदेति सुकन्यकाः।
'सूर्यकान्तः' सुतश्चैकोऽभवन्देवानुकम्पया।।१३
सर्वा जामातृगेहस्थाः पुत्र्यः सन्ततिसम्भृताः।
पुत्रः पुत्रकलत्रादियुतश्चास्ति सुखान्वितः।।१४
इतः सेवां सुसम्पाद्य काश्यामेव वसन्निह।
विश्वनाथदयादृष्ट्या विश्वस्मिन्प्रथितिं गतः।।१५
काणादार्यभटाख्यं भगवत्कृपया च सर्वतोभद्रम्।
भारतराष्ट्रपतीनामपि सम्मानं समध्यगममतुलम्।।१६

यथामति यथाशक्ति ज्योतिःशास्त्रविवर्द्धनम्।
करोमि ग्रन्थलेखादिविधिनाऽहं मुदान्वितः।।१७
श्रीविन्ध्याचलवासिनीं भगवतीं देव्यन्नपूर्णां शुभाम्।
श्रीदुर्गां जगदीश्वरीं गुणनिधिं ढुण्ढिं तथा भैरवम्।
केदारेश्वरमादिदेवमनिशं विश्वेश्वराख्यं प्रभुं
श्रीमत्सङ्कटमोचनं कपिपतिं नित्यं नतोऽहं मुदा।।१८
मुरारिलालशर्माणं मीठालालं गुरुद्वयम्।
तृतीयमवधाख्यं तं विहारिणमुपाश्रये।।१९
एभिरेव प्रयत्नेन संस्कृतोऽहं कृपालुभिः।
पुण्यश्लोकेभ्य एतेभ्य मम नित्यं नमो नमः।।२०





।।श्रीगणेशाय नमः।।

# भूमिका

**विघ्नेश्वरं प्रणम्यादौ वाग्देवीं सूर्यदैवतम् ।**

**विश्वेश्वरं च संस्मृत्य क्रियते लेख संग्रहः।।**

सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। वस्तुतः इसे विश्व की प्राचीनतम संस्कृति कहना ही उचित है। प्राचीनकाल से अबतक अनेक सभ्यताओं का उद्भव, विकास और अवनति हुई है। परन्तु भारतीय परम्परा में निहित सनातन धर्म, उसके शाश्वत मूल्य, वैदिक व पौराणिक ज्ञान-विज्ञान आज भी विश्व स्तर पर अपने महत्व को प्रकट करते हैं। अनेक विकसित और विकास शील राष्ट्र सर्वाधिक विकसित कहलाने की प्रतिस्पर्धा में मानवीय एवं आध्यात्मिक मूल्यों को भूलते जा रहे हैं। जिससे वैश्विक स्तर पर अनके प्रकार के संकटों, जैसे संवेदन शून्यता आतङ्कवाद, पर्यावरणीय संकट, भौमान्तरिक्ष उत्पात तथा अपसंस्कृति आदि की निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इन संकटों से निपटने के लिए राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संस्थायें कार्यरत हैं। परन्तु सम्यक रूप से समाधान प्राप्त नहीं हो रहे हैं। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ ऐसी समस्याओं के समाधान को एक रूपता नहीं प्रदान कर पा रहे हैं। ऐसे में मनीषी चिन्तकों का ध्यान भारत की प्राचीन और अक्षुण्ण ज्ञान परम्परा की ओर केन्द्रित हो रहा है। यहाँ चौदह विद्याओं और चौसठ कलाओं का चिर काल से ही महत्व रहा है। जिनमें न केवल व्यक्तिगत और सामाजिक अपितु वैश्विक कल्याण एवं समुन्नति की संकल्पना की गई है। प्रौद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण के इस युग में अनके बांर इन विद्याओं की वर्तमान प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगते आये हैं, किन्तु देखा गया है कि अत्याधुनिक यन्त्र (उपकरण) और सक्षम तन्त्र (प्रशासन) व्यवस्था होने पर भी आधुनिकता के सर्जक वैज्ञानिक, अभियन्ता, प्रशासक एवं चिकित्सक आदि कई अवसरों पर अपने आपको असमर्थ एवं अक्षम अनुभव करते हैं। तब वे प्राचीन भारतीय विद्याओं की

ओर देखते हैं तथा योग, साधना, अध्यात्म तथा नक्षत्र विद्या आदि का अवलम्बन कर अपने कार्य को सफल बनाने का प्रयास करते हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जनहित के प्राचीन मानकों को दृष्टिगत रखते हुए या उनके साथ समन्वय से ही व्यक्तिगत, सामाजिक एवं वैश्विक स्तर पर सुस्थिर विकास (Sustainable development) की संकल्पना को साकार किया जा सकता है।

प्राचीन काल में इन विद्याओं के पारङ्गत विद्वानों का राजकीय स्तर से सम्मान होता था। जैसा कि वृहत्संहिता में लिखा है—

यस्तु सम्यग्विजानाति होरागणितसंहिताः।
अभ्यर्व्यः स नरेन्द्रेण स्वीकर्तव्यो जयैषिणः।।(वराहः)

वर्तमान में अनेक राष्ट्रों ने वैदिक संस्कृति के महत्व व उपयोगिता को स्वाकीरा है और स्वयं को उन्नत बनाने में भारतीय विद्याओं में निहित ज्ञान का अनुप्रयोग भी कर रहे हैं। भारत में भी अनेक संस्थायें प्राचीन परम्परा के संवर्धन एवं समसामयिक विकास के लिए कार्य कर रही हैं। वाराणसी स्थित नैसर्गिक शोधसंस्था भी इसी दिशा में अग्रसर है। इसके संस्थापक न्यायमूर्ति स्व. श्रीशनाथ तिवारी जी का जीवन भारतीय आदर्शों का मूर्त रूप था। महात्मा गाँधी की यह उक्ति 'सादा जीवन उच्च विचार' स्व. तिवारी जी के जीवन में ही हम लोगों ने देखा। ऐसे महापुरुष द्वारा स्थापित संस्था का उच्च आदर्शों की रक्षा के लिए एवं भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए प्रतिबद्ध होना स्वाभाविक ही है। भारतीय संस्कृति का उन्नयन करना तथा इसके मूल-भूत सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाना, पारस्परिक सद्भाव की वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना को विकसित करना इस संस्था का प्रमुख लक्ष्य है। नैसर्गिक शोध संस्था जनचेतना-कार्यक्रमों संगोष्ठियों तथा विविध प्रकाशनों के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हैं। प्रसंगात् यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक समझती हूँ कि इस संस्था के माध्यम से प्रवासी भारतीयों के लिए विशेष कर नवयुवकों के लिए प्रो. रामचन्द्रपाण्डेयजी ने भारतीय विद्याओं से सम्बन्धित, वेदविज्ञान तथा संस्कृति से सम्बन्धित अनके सूचनायें डिस्प्ले बोर्ड पर लिखवाकर अमेरिका में न्यूयार्क स्थित दिव्यधाम मन्दिर में अवलोकनार्थ लगवाया। इसी के साथ-

साथ उक्त सूचनाओं को दिव्यधाम नामक लघु पुस्तिका में भी प्रकाशित कर सर्व जन सुलभ कर दिया। इसी प्रकार ट्रीनिडाड से ज्योतिष विद्या के अध्ययन के लिए आये अपने दो छात्रों के आग्रह पर ट्रिनीडाड़ और टुबैगो के अक्षांश पर भारतीय पञ्चाङ्गों की तरह ही सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग का निर्माण कर वहाँ के प्रवासी भारतीयों के धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का मार्ग प्रशस्त किया। इस दुरूह कार्य के सम्पादन मे मेरे अग्रज प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी जी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जार्जिया में अटलाण्टा के निकट भारतीय परिवार द्वारा निर्मित हनुमान मन्दिर से जुड़े श्रद्धालुओं के आग्रह पर रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड को देवनागरी लिपि के साथ-साथ रोमन लिपि में मुद्रित करा कर उन्हें सुलभ कराया। इससे नई पीढ़ी, जो देवनागरी लिपि से अपरिचित है, वह भी सुन्दर काण्ड पढ़ने में प्रवृत्त हुई है। कुछ अमेरिकन मूल के व्यक्ति भी सुन्दर काण्ड के प्रति आकृष्ट दिखलाई दिये। प्रवासी भारतीय अपनी संस्कृति के प्रति कितने भावुक है इसका उदाहरण ग्रन्थालयाध्यक्ष एवं ओम शान्ति पत्रिका के सम्पादक डॉ. मुरारि....... की निम्न पंक्तियों से लगाया जा सकता है। प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय जी के कोलम्बिया (मिसूरी) प्रवास के समय उनके एक लेख, जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी, के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए जो कुछ लिखा है उसे मूल रूप में प्रस्तुत कर रही हूँ—

*"This scholar from Varanasi visited us here in Columbia. At my request he wrote something for Om Shanti. It was in Hindi. While translating it, tears of joy rolled down my eyes-as many drops as the letters!*

*Shri Ram Chandra Pandey probably overlooked the fundamental fact that Bhagawan Shri Ramchandra was just playing the role of a man with a purpose. He was MAYAMANUSHA DEHAWAN, only showing his Mohmayi mahamaya lila. He new but did not say Udarcharitanam tu vasudhaiva kutumbakam and/or krinvanto vishwamaryam.*

*Many Indians living aborad contribute more to the welfare well-being of Indian than many Indians living in India all the life.*

*Murari (Om Ṣhanti, Dipavali 1997)*

इन शब्दों से साफ झलक रहा है कि जन्मभूमि से दूर रहने की पीडा तो अन्तर्मन में है किन्तु वसुधैव कुटुम्बकम् एवं कृण्वन्तो विश्वमार्यम् जैसी वैदिक सूक्तियाँ विश्व में कहीं भी रहते हुए अपने देश और अपनी संस्कृति के लिए कुछ करने हेतु प्रेरित करती हैं। साथ ही एक पीडा यह भी है कि भारतीय लोग भारत में रह कर भी कुछ नहीं कर रहे जो उन्हें अपनी संस्कृति के लिए करना चाहिए।

इस प्रकार की भावनाओं का आदर करते हुए देश-विदेश में सांस्कृतिक मूल्यों की पुनः स्थापना के लिए संस्था एवं संस्था से जुड़े लोग प्रयत्नशील हैं। इस दिशा में लोग अपने-अपने ढंग से चिन्तन करते रहते हैं। विचार सरणि भी नदी की अजस्त्रधारा की तरह निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। कभी-कभी अकस्मात् बहुमूल्य विचार मस्तिष्क में आते हैं तथा कालप्रवाह में विलीन हो जाते हैं। सावधान व्यक्ति उन विचारों को लिपिबद्ध कर उन्हें सुरक्षित करने का प्रयास करते हैं। समयानुसार वे विचार बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसलिए विचारों को महत्व देना चाहिए। इतना ही नहीं कुछ लोग परिश्रम से निबन्ध लिखते हैं तथा उनका तात्कालिक उपयोग कर उसे भी भूल जाते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रायः व्यक्ति की अतिशय व्यस्तता के कारण उत्पन्न होती है। कभी-कभी प्रसंगानुसार उन विचारों एवं लेखों की भी महत्ता सिद्ध होती है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि मस्तिष्क में उपजें विचारों को तथा लेखों को सुरक्षित रखना चाहिए। प्रायः यह भी देखने में आता है कि लेखक अपने लेखों का मूल्याङ्कन नहीं करते उसे सामान्य मान कर उपयोग के बाद विस्मृत कर देते है। किन्तु जिज्ञासुओं के लिए वे लेख बहुत उपयोगी तथा कभी-कभी मार्ग दर्शक भी सिद्ध होते हैं, विशेष कर जब किसी बिन्दु पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया हो।

विज्ञान की छात्रा होने के कारण प्रायः मेरी जिज्ञासा भारतीय संस्कृति में वैज्ञानिक तथ्यों को जानने के प्रति रहती है। इस लिए वेद विज्ञान से सम्बन्धित या मानव मूल्यों से सम्बन्धित निबन्धों की ओर मेरी जिज्ञासा भरी दृष्टि सदैव बनी रहती है। इसी जिज्ञासु दृष्टि के कारण पिता जी द्वारा लिखित वेद, ज्योतिष, पुराण एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित लेखों को मैं प्रायः पढ़ती रहती थी। श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के शिक्षा संकाय

से सम्बद्ध होने पर मुझे भारतीय शिक्षा पद्धति को जानने की जिज्ञासा हुई। उसी समय हिन्दुस्तान समाचारपत्र में मैंने पिताजी का साक्षात्कार पढ़ा तथा उसी समाचार पत्र से ज्ञात हुआ कि गोरखपुर विश्वविद्यालय में भारतीय प्राचीन शिक्षापद्धति पर पिताजी का व्याख्यान हुआ था। मैंने पिता जी से उक्त व्याख्यान की प्रति प्राप्त करनी चाही किन्तु पिता जी ने कहा कि मैंने तो ट्रान्सपरेन्सी के द्वारा मौखिक व्याख्यान दिया था। मैंने ट्रान्सपरेन्सी को ही देखने का आग्रह किया। जब मैने ट्रान्सपरेन्सी देखा तो मुझे आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई। क्योंकि मुझे यह अनुमान नहीं था कि शिक्षा पद्धति पर भी प्राचीनकाल मे इतनां व्यवस्थित विचार किया जाता था। मेरे लिए यह बहुत उपयोगी सामग्री थी। मैने देखा कि परिश्रम से तैयार की गई यह सामग्री व्याख्यान के बाद भी अनेक जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी हो सकती है। मैने पिता जी से अनुरोध किया कि इस प्रकार के लेखों को यदि आप मुद्रित करा दें तो एक उपयोगी संकलन तैयार हो जायेगा। कुछ समय बाद मैने पुनः अपने आग्रह को दुहराया तो पिता जी ने कहा जो लिखना था लिख दिया उसी विषय पर फिर समय लगाने से अच्छा है मै कुछ और नया लिखूँ बहुत कुछ लिखने को शेष है। यदि तुम्हारी प्रबल इच्छा है तो स्वयं इस कार्य को कर डालो। मैने इस दायित्व को सहर्ष स्वीकार तो कर लिया किन्तु बहुत से लेख ऐसे थे जिनकी विषय वस्तु गहन एवं शास्त्रीय थी जो मेरे लिए अत्यन्त कठिन थी। फिर भी मैने इस दायित्व के निर्वाह का साहस इसलिए किया कि मुझे तो यथावत लेखों को मूल रूप से ही प्रस्तुत करना था। इसलिए मैने उन्ही लेखों का संकलन किया जो मुद्रित अथवा अमुद्रित किन्तु पूर्ण रूप से उपलब्ध थे। समस्त लेखों को भाषा के आधार पर तीन श्रेणियों मे विभक्त कर संकलित किया गया है। सर्व प्रथम संस्कृत में लिखे गये लेखों को स्थान दिया गया है तदनन्तर हिन्दी और अंग्रेजी मे लिखे गये लेखो को संग्रहीत किया गया है ताकि पाठकों को असुविधा न हो।

संकलित निबन्धों के लेखक राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित पूज्य पिता जी प्रो. रामचन्द्र जी पाण्डेय के सम्बन्ध में कुछ लिखने हेतु मैं अपने को उचित पात्र नहीं समझ रही हूँ, फिर भी कुछ पंक्तिया लिखने का प्रयास कर रही हूँ। प्रो. पाण्डेय जी प्रख्यात ज्योतिर्वित् होने के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्ता के

रूप में प्रतिष्ठित हैं। आपसे प्रेरणा व परामर्श प्राप्त करके अनेक शिक्षाविद् अभियन्ता, चिकित्सक, प्रशासक, राजनीतिज्ञ तथा व्यवसायी गण अपने-अपने कार्यक्षेत्र में ससम्मान अग्रसर हैं। सतत प्रयासों के द्वारा आपने ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन को सम सामाजिक बनाया है। ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक शोध कार्यों के माध्यम से इसके अनुप्रयोग को महत्वपूर्ण स्थान मिल रहा है। शासकीय एवं स्वतन्त्र संस्थाओं में अनेक पदों को सुशोभित करते हुए आपने संस्कृत और संस्कृति के अनुरक्षण में निर्णायक योगदान दिया है। आपकी पुत्री होने के कारण आपके व्यक्तित्व से सुपरिचित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। आपने विषम परिस्थितियों को महत्व न देते हुए अनेक अवसरों पर कुरीतियों और कुप्रथाओं के उन्मूलन हेतु तथा सनातन परम्पराओं के निर्वहन और संवर्धन के लिए अनेकानेक प्रयास किये हैं। अत: आपके द्वारा कृत कार्यों को जन मानस तक पहुँचाने से समाज और राष्ट्र में एक ऊर्जा का संचार होगा तथा व्यक्ति अपनी परम्पराओं के संरक्षण के लिए प्रेरित होगा। सर्वप्रथम मैंने इस संकलन को ज्योतिर्निबन्धावली नाम से संकलित किया किन्तु विषय की विविधता तथा गुरुजनों के सत्परामर्श से इसका नाम प्राच्यविद्यापरिशीलन रखा।

शिक्षाविद् और आपकी पुत्री होने के कारण मैं अपना परम कर्तव्य मानती हूँ कि राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय स्तर पर ऐसे कार्यों को प्रसारित होना चाहिए, जिनका लक्ष्य जन कल्याण ही नहीं अपि विश्व कल्याण है। आज सूचना और प्रौद्योगिकी के युग में सूचनाओं का प्रसारण असीमित है परन्तु वास्तविक ज्ञान प्रवाह सीमित होता जा रहा है। लोग सूचनाओं के जाल में इस तरह भटक रहे है उचित और अनुचित का ज्ञान कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति के संरक्षण के लिए ज्ञान के अजस्र प्रवाह को उचित साधन मानते हुए उसी पथ का पथिक बनने का प्रयास कर रही हूँ।

नैसर्गिक शोध संस्था की सदस्या होने के कारण मेरी प्रबल इच्छा थी कि इस संकलन का प्रकाशन मेरी अपनी संस्था द्वारा हो। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई जब सभी सदस्यों ने मेरे आग्रह को स्वीकार करते हुए प्राच्यविद्यापरिशीलन नामक इस संकलन ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु अपनी सहर्ष संस्तुति प्रदान की। अत: संस्था के सभी पदाधिकारियों एवं सदस्यों के प्रति

हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। मैं अपने पिता जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ क्योंकि इन्होने अपनी कृतियों के संकलन का श्रेय मुझे दिया है, जिससे मुझे चिर सञ्चित अपनी इच्छा को पूर्ण करने का अवसर मिला है। साथ ही अपने संरक्षक, संस्कृतजगत के गौरव राष्ट्रपति सम्मान एवं अनेक अलंकरणों से अलंकृत, माननीय कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी के प्रति हार्दिक सम्मान व्यक्त करती हूँ जिनकी सत्प्रेरणा एवं आशीर्वाद से मैं इस कार्य में प्रवृत्त हो सकी। संस्था के अध्यक्ष, विविध अलङ्करणों से अलङ्कृत राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्हों ने मुझे इस कार्य हेतु अधिकृत किया। संस्था के कोषाध्यक्ष श्री सुरेशनाथ तिवारी जी के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ। अनन्तर कार्यकारिणी के सभी सदस्यों को एक बार पुन: धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। इस संकलन को सुन्दर कलेवर प्रदान करने हेतु भाई डॉ. विपुलशंकर पंड्या को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करती हूँ। इनके त्वरित सहयोग से इस कार्य को मैं अतिशीघ्र प्रकाश में लाने में समर्थ हो सकी। अन्त में उन सभी चिन्तकों के प्रति आभार व्यक्त कर रही हूँ जिनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका।

आशा करती हूँ मेरा यह प्रयास, जैसे मेरे लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुआ वैसे ही अन्य जिज्ञासु जनों के लिए भी ज्ञानवर्धक तथा प्रेरक होगा। सम्बद्ध विषय का ज्ञाता न होने के कारण त्रुटियाँ अवश्यम्भावी है अत: आशा करती हूँ विज्ञ जन क्षमा करते हुए भविष्य में परिष्कार हेतु सुझाव देकर अनुगृहीत करेगें।

**स्यादेवमेऽलसतयामतिमान्द्यतो वा  दोषःक्वचिदथापि न काऽपि शंका।**

**नैसर्गिकीखलुगुणीकरणप्रवीणाशक्तिः सदाविजयतेभुविसज्जनानाम्।।**

**गुरुपूर्णिमा**
संवत् 2067

विदुषां वदा
**डॉ. मीनाक्षी मिश्रा**
सहायक प्रोफेसर (शिक्षाविभाग)

# तिथिस्वरूपविमर्शः

सम्प्रति हि पञ्चाङ्गावयवभूतां तिथिमधिकृत्य महान् विवादः प्रचलति। तत्र 'दृक्प्रत्ययकारिका कदम्बप्रोतीया एव तिथिर्ग्राह्या' इति केषाञ्चन्मतम्। 'बाणवृद्धिरसक्षया ध्रुवप्रोतीया एव तिथिर्ग्राह्या' इत्यपरेषां मतम्।

अत्र ब्रूमः—इदानीन्तनेषु पञ्चाङ्गेषु 'सप्तवृद्धिदशक्षया' तिथिरेव व्यवह्रियते, न तु बाणवृद्धिरसक्षयेति। तत्रादाविदं विचारणीयं यत् कया रीत्या साधिता तिथिः शुद्धा दृक्प्रत्ययकारिका च भवेदिति।

सूर्याचन्द्रमसोः सकाशादेव तिथिसाधनं क्रियते।[1] तच्च सूर्याचन्द्रमसोरस्थिरत्वात् तिथिमानं न शाश्वतिकं भवितुमर्हति। अतो भवेन्नाम कदाचित् कस्मिन् काले बाणवृद्धिरसक्षयात्मिका तिथिः शुद्धा, इदानीं तु सा न व्यवहारयोग्या। इतिहासपृष्ठावलोकनेनेदं स्पष्टं यत् कालभेदात् तिथेरपि ह्रासवृद्ध्योः क्रमे परिवर्तनं भवितुमर्हति।

वैदिककाले तिथेः स्वरूपं सर्वथा भिन्नमासीत्। तदानीं चान्द्रमासस्य ३० भागात्मकः कालस्तिथिरासीत्। यथा—

$$\text{चान्द्रमासः} \times \frac{१}{३०} = \frac{\text{चान्द्रमासः}}{३०} = \frac{२९.५३०५८८ \text{ दिनानि}}{३०}$$

= .९८४३५३ दिनम् । अर्थादेकदिवसादल्पकालः ।

यद्यपि वेदेषु तिथिनामुल्लेखो नास्ति, केवलं ब्राह्मणग्रन्थेष्वस्या उल्लेखो दृश्यते, यथा —

"चन्द्रमा वै पञ्चदशः । एष हि पञ्चदश्यामपीक्षते । पञ्चदश्यामापूर्यते[2]"।

अनेन स्फुटं यत्तदानीमपि प्रतिपदातः पञ्चदशीं यावत्तिथेर्व्यवहार आसीत् । एवमेव ऐतरेयब्राह्मणेऽपि तिथेः परिभाषा प्रदत्ता विद्यते—

१. भक्ताव्यर्कविधोर्लवा यमकुभिर्याता तिथिः स्यात् फलम् । (ग्र० ला० २८)

२. तै० ब्रा० १।५।१०।

**" यां पर्यस्तमियाद् अभ्युदियादिति सा तिथि:[१] ।**

अर्थात् चन्द्रोदयस्यासन्नकालश्चन्द्रास्तस्यासन्नकालो वा ।

प्रो० पी० सी० सेनगुप्तमहोदयेनास्य व्याख्या एवं रूपेण कृता — शुक्लपक्षे तिथेर्गणना चन्द्रास्तं यावत् कृष्णपक्षे तु चन्द्रोदयात् चन्द्रोदयं यावत् कर्त्तव्या[२] ।

इयमेव पद्धतिस्तिथिगणनायास्तदानीं प्रचलिता आसीत् । शनैः शनैः सिद्धान्तज्योतिषस्य विकासेन सह तिथिमानमपि परिवर्तितम् । ४०० ईसवीयारम्भात् तिथिगणनाया: परिष्कृतं स्वरूपं व्यवहारे समायातम् । तदाप्रभृत्यनुदिनं सिद्धान्तज्योतिषशास्त्रे संशोधनं संवर्धनञ्च प्रचलितम् । सम्प्रति गृहीततिथ्यानयनप्रक्रियाया: सैद्धान्तिकं विवेचनं प्रस्तूयते—

रविचन्द्रयोर्भगणान्तरतुल्याश्चान्द्रमासा भवन्ति, यथोक्तं भास्करेण—

**"अन्तरं तरणिचन्द्रचक्रजं यत् स विधुमाससञ्चय: ।"[३]**

यथा एकस्मिन् रव्यब्दे रवेर्भगणसंख्या एक: (१), चान्द्रभगणाश्च त्रयोदश (१३), अनयोरन्तरेण (१३-१=१२) द्वादशमासाश्चैत्रादयो भवन्ति । एकस्मिन् चान्द्रमासे त्रिंशत्संख्याकास्तिथयो भवन्ति। अमान्तादमान्तं यावच्चान्द्रमास: । अमान्तो नाम सूर्य-चन्द्रयोर्योग एकत्र स्थितिर्वा राश्यादि-सम्बन्धेन। अतो रवीन्द्वोरेकयोगादपरयोगं यावदेकश्चान्द्रमास:। तत्रोभयो-रन्तरांशा : ३६०° अंशा: । अमान्तादमान्तं यावत् त्रिंशत् संख्याकास्तिथयो व्यतीता: । ततश्चानुपातेनैकतिथिसम्बन्धिरविचन्द्रयोरन्तरांशा: = १२ = रविचन्द्रयोरन्तरांशा: । अत्र स्फुटं यद् रविचन्द्रयोर्योगाद् द्वादश-अंशं यावदन्तरमेकतिथेर्मानम् ।

अत्रायं प्रश्न उदेति यत् कीदृश: सूर्यश्चन्द्रो वा तिथ्यर्थं ग्राह्य: ?

भारतीयज्योतिषसिद्धान्तेषु केवलं सौरब्राह्माख्यौ च द्वावेव सिद्धान्तौ पञ्चाङ्गानां निर्माणार्थं स्वीकृतौ । तयो: सिद्धान्तयो: सर्वत्रैव कदम्बप्रोतीय-सूर्याचन्द्रमसाभ्यां पञ्चाङ्गानामानयनं क्रियते। ययोराधारेण सूर्यसिद्धान्तीया (मकरन्द) ग्रहलाघवीया च सारण्यौ निर्मिते स्त:। एतच्च न केवलं भारतीयै:,

---

१. बह्वृच ब्रा० द्र.भा.ज्यो.कृ. ६०।

२. द्र० पञ्चाङ्ग समिति की रिपोर्ट, पृ. ४३१।

३.सि० शिरोमणि, ग० म० भगणाध्याय:, श्लो० १३।

अपि तु पाश्चात्त्यैराधुनिकैर्ज्योतिर्विद्भिरपि। कदम्बप्रोतीयसूर्या-चन्द्रमसाभ्यां पञ्चाङ्गानामानयनं स्वीकृतम् । तत्र केवलं पाश्चात्त्यमते ग्रहाणां स्फुटीकरणप्रक्रिया एव भिन्ना वर्तते। इयं प्रक्रिया सुगमा दृक्प्रत्ययकारिका च।

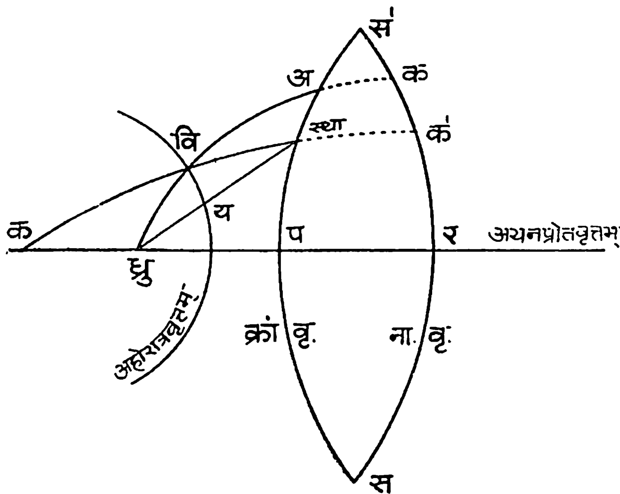
अत्र विचारणीयोऽयं विषयो यद् ध्रुवप्रोतीयं तिथिसाधनं सम्भवं स्यान्नवेति। किञ्च, ध्रुवप्रोतीयानां ग्रहाणामाधारेण स्थिरा सारणिर्निर्मातुं शक्यते न वा?

ध्रुवप्रोतीयतिथिग्रहणे — "आयनदृक्कर्मकलासंस्कृतकदम्बप्रोतीयस्फुट-चन्द्रस्य कदम्बप्रोतीयस्फुटसूर्येणान्तरं तिथिः । रविचन्द्रयोर्गत्यन्तरं तिथिमानम् ।" इति तिथिलक्षणं भविष्यति। अस्मिन् पक्षे ग्रहालाघवीयम् "भक्ता व्यर्कविधोर्लवा यमकुभिर्जाता तिथिः स्यात् फलम् " इति तिथिलक्षणं न संघटते ।

उपर्युक्तलक्षणे जिज्ञासेयं समुद्भवति यत् किं नाम दृक्कर्म? तस्य साधनं च कथम् ?

ग्रहगतकदम्बसमसूत्रयोः क्रान्तिवृत्ते यदन्तरं तदेव दृक्कर्म नाम साधन-मुपयोगश्चाग्रे वक्ष्यते।

स्फुटप्रतीत्यर्थं क्षेत्रम् —




प्रस्तुतक्षेत्रे वि = चन्द्रबिम्बम् , स्था = क्रान्तिवृत्ते चन्द्रस्य कदम्बप्रोतीयं स्थानम् ।

अ = क्रान्तिवृत्ते चन्द्रस्य ध्रुवप्रोतीयं स्थानम् , चन्द्रायनदृग्ग्रहो वा ।

अ स्था = आयनदृक्कर्मकला

वि स्था अ त्रिभुजे —

∠ अ वि स्था = बिम्बीयायनं बलनम्

∠ स्था = ९०°

वि अ चापं ध्रुवप्रोते स्पष्टशरः

वि स्था अ त्रिभुजं सरलं मत्वा चापस्य ज्ञानायानुपातः —

$$\frac{\text{चन्द्रस्पष्टशरः} \times \text{बिम्बीयायनबलनज्या}}{\text{त्रिज्या}}$$

= आयनदृक्कर्मकलाज्या । अस्याश्चापं कलामानम् ।

अनेन मानेन संस्कृतः कदम्बप्रोतीयश्चन्द्रो ध्रुवप्रोतीयो भवति । अनया रीत्या प्रतिदिनमायनबलनस्य शरस्य च मानं भिन्नं भिन्नं भविष्यति । अनयोर्गतिवैलक्षण्यात् काचित् स्थिरा सारणिर्निर्मातुं न शक्यते। अतो ध्रुवप्रोतीय-सूर्याचन्द्रमसोः सकाशात् तिथिज्ञाने इयमापत्तिः समायाति ।

यदि दृक्कर्मसंस्कार एवं गृह्यते, तथा —

उक्तक्षेत्रे वि स्था य त्रिभुजे —

∠ य = ९०°        ∠ स्था = स्थानीयमायनं बलनम् ।

अत्रानुपातः —

$$\frac{\text{चान्द्रमध्यमशरः} \times \text{स्थानीयमायनबलनज्या}}{\text{त्रिज्या}}$$

= अहोरात्रवृत्तीयायनदृक्कर्मासु ज्या = (फलम्)

$$\frac{\text{फलम्} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}} = \text{नाडीवृत्ते आयनदृक्कर्मासु ज्या ।}$$

ततः चापं विधाय क्रान्तिवृत्ते कलामितेर्ज्ञानं कर्त्तव्यम् । सा च कलामिति-रायनदृक्कर्म भविष्यति। अत्रापि आयनबलनशरयोर्वैलक्षण्यात् प्रतिदिवसीये व्यवहारगणिते सारण्या निर्माणे च तस्या उपयोगो न सम्भाव्यते। यदि कमलाकरभट्टोक्तरीत्या साध्यते, तदा —

चन्द्रबिम्बगत सं० वि० चलवृत्ते चलग्रहस्य साधनं कमलाकरभट्टोक्तरीत्या भवति। अस्य (चलग्रहस्य) विषुवांशं चन्द्रस्य च स्थानीयविषुवांशं संसाध्य तयोरन्तरेण क्रान्ति-वृत्तीयायनदृक्कर्मकलायाः मानं ज्ञातुं शक्यते। विषयेऽस्मिन् कमलाकरेण बहवो नियमाः प्रदर्शिताः । यद्यपि आयनदृक्कर्मकलासाधनस्य सैद्धान्तिकी युक्तिस्तु वर्तत एव, परमस्य व्यावहारिकं स्वरूपं नितान्तमसम्भवम् ,आयनदृक्कर्मकलायाः साधनभूतानां सामग्रीणां प्रपञ्चबाहुल्यात् । यथा — साधनार्थमयनांशज्ञानमत्यावश्यकम् । परमयनांशस्य वार्षिकगतेः प्रभावेण चन्द्रस्यैकैव भोगांशोपरि आयनदृक्कर्मकलायाः मानं प्रत्यब्देषु पृथक्-पृथक् समागमिष्यति । अतोऽनया रीत्यापि सारणिनिर्माणमसम्भवम् । एवं ध्रुवप्रोतीयतिथिग्रहणे प्रत्येकपक्षेऽपि दूषणं समायाति । अतः सारणिनिर्माणेऽयं पक्षो नोपयुज्यते ।

कदम्बप्रोतीयसूर्याचन्द्रमसोः सकाशात् तिथ्यानयनेऽयनांशसम्बन्धिनी काचिदापत्तिर्न समायाति; यतो हि परस्परं सूर्याचन्द्रमसोः संशोधनेनायनांशाः स्वयमेव विनष्टा भवन्ति ।

यदि सूर्याचन्द्रमसोः पृथक्-पृथग् विषुवांशज्ञानं कृत्वा तयोरन्तरेण तिथिसाधनं क्रियते, तदा चलायनांशवशात् तयोर्विषुवांशमपि प्रतिवर्षं पृथक्-पृथग् भविष्यति । अतो विषुवांशसकाशादपि तिथिसाधनमसम्भवम् । अत्रैकोऽपरोऽपि शास्त्रीयदृष्ट्या विरोधः सम्भवेत्, पूर्वोक्ता तिथिसाधनप्रक्रिया असिद्धा भविष्यति । तत्रोक्तं स्पष्टरविचन्द्रयोरन्तरं द्वादशभिर्भक्तं तिथिः ।

परमत्र रविचन्द्रयोर्विषुवांशान्तरं द्वादशभिर्भक्तं तिथिरिति भविष्यति।

इत्थं निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् पञ्चाङ्गनिर्माणार्थं ध्रुवप्रोतीयतिथिसाधनं शास्त्रविरुद्धमशुद्धञ्च । यदि केवलं "बाणवृद्धिरसक्षय:" इति वाक्यस्य परिरक्षणार्थं ध्रुवप्रोतीया तिथिर्गृह्यते, तदा अस्य न काचिदावश्यकता । यतो हि उक्तवचनस्य संगति: सूर्यसिद्धान्त-रीत्यापि वर्तते। यदि सूर्यसिद्धान्तानुसारं कदम्बप्रोतीया तिथि : साध्यते तदा — "बाण-वृद्धिरसक्षय:" इति पक्षे न काचिद् हानि: । कदाचित् केवलं पलात्मकमन्तरं सम्भवेत् ।

यदि ध्रुवप्रोतीयतिथिग्रहणे दृकप्रत्ययस्य हेतुत्वं स्वीक्रियते तदा इयमापत्ति:—

परम्परागतसिद्धान्तानुसारं स्फुटग्रहा: कदम्बप्रोतीया एव भवन्ति । अनन्तरं कदम्बप्रोतीये स्फुटचन्द्रे आयनदृक्कर्मकलासंस्कारं कृत्वा ध्रुवप्रोतीयश्चन्द्र : साध्यते । अत्रेदमवधेयं यदि कदम्बप्रोतीय: स्फुटश्चन्द्र: सूर्यो वा अशुद्धो दृकप्रत्ययकारकानर्हश्च, तदा अशुद्धचन्द्रस्याधारेण साधितो ध्रुवप्रोतीयश्चन्द्रोऽप्यशुद्धोऽदृश्यश्च । एवमशुद्धग्रहाधारेण साधितो दृक्कर्मसंस्कारोऽप्यशुद्ध एव भविष्यति । एतेन स्पष्टं प्रतीयते यद् दृक्प्रत्ययाय भारतीयसिद्धान्तानुसारमागतेषु ग्रहेष्वन्ये नवीना : संस्कारा अपेक्षिता: सन्ति। ते कदम्बप्रोतीयग्रेहषु ध्रुवप्रोतीयग्रहेषु च भवितुमर्हन्ति, साम्प्रतं प्रचलितेषु पञ्चाङ्गेषु ये दृक्सिद्धा ग्रहास्ते "नाटिकल आल्मनाक" द्वारा साधिता: सन्ति ।

एवमेव यदि चान्द्रायनदृग्ग्रहानुसारेण तिथि: साध्यते, तदा क्षयमासाधिमासयोरपि साधनं तस्यैवाधारेण भविष्यति । परन्तु एतादृशो व्यवहार: शास्त्रेषु न कुत्रचिदपि दृश्यते।

अत एव पूर्वोक्तदोषभयात् पूर्वाचार्यैर्ध्रुवप्रोतीया तिथिर्न स्वीकृता, कदम्बप्रोतीया एव स्वीकृता ।

वस्तुतस्तिथिसाधने दृक्कर्मसंस्कारस्यावश्यकता नास्ति । परन्तु केषाञ्चिद् विदुषां मतमस्ति यच्छाकल्येन शाकल्यसंहितायां तिथिसाधने दृक्कर्मसंस्कारस्य निर्देश : कृतो यथा —

**ग्रहणादन्ययोगे च कालेभेदे तथैव हि।**
**शृङ्गोन्नत्युदयास्तेषु दृक्कर्मादाविदं स्मृतम्।।**

अत्र 'ग्रहणादन्ययोगे च' इत्यनेन तिथिरपि गृह्यते इति तेषां मतम् ।

परन्त्विदं न समीचीनम् । अस्य सामान्यार्थस्त्वयमेव यत् ग्रहणातिरिक्तेषु योगेषु दृक्कर्मसंस्कारः कार्यः । परन्तु 'योग' पदेन किं ग्राह्यमिति तत्र न स्फुटीकृतम् । सूर्यसिद्धान्तेऽस्य स्पष्टोल्लेखो वर्त्तते—

**नक्षत्रग्रहयोगेषु ग्रहास्तोदयसाधने ।**

**शृङ्गोन्नतौ तु चन्द्रस्य दृक्कर्मादाविदं स्मृतम् ।।** (सू० सि० ७।११)

अस्यायमभिप्रायो यद् नक्षत्रग्रहाणां योगेषु दृक्कर्म कर्त्तव्यम् । नक्षत्रग्रहाः के ? भौमादयः पञ्च ग्रहाः, नक्षत्रग्रहाः, ताराग्रहा वा । तेषु योगेषु दृक्कर्म कर्त्तव्यम् , न तु सूर्यचन्द्रयोर्योगे, यथा सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टरूपेणोक्तम् —

**ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ ।**

**समागमः शशाङ्केन सूर्येणास्तमनं सह ।।** (सू० सि० ७।१)

अर्थाद् भौमादीनां युतिर्युद्धाख्यः समागमाख्यश्च, पञ्चताराग्रहाणां शशाङ्केन सह युतिः समागमः, सूर्येण सर्वेषां युतिः 'अस्त' पदवाच्या भवति । अतोऽत्र युतिपदेन तिथिर्न ग्राह्या । अत्रेदमपि विचारणीयं यद् दृक्कर्मपदेन किं ग्राह्यम् ? दृक्कर्म द्विविधम् — आयनमाक्षजं च । यत्रायनमभीष्टं तत्रायन-दृक्कर्मपदेन यत्राक्षमभीष्टं तत्राक्षदृक्कर्मपदेन सर्वत्रैव व्यवहृतम् । परं यत्र केवलं दृक्कर्म एवोक्तं तत्रायनाक्षयोर्योगान्तरभूतं स्फुटदृक्कर्म ग्राह्यम्।

यदि लङ्कादेशीयं तिथिसाधनमभीष्टम् , तदा केवलमायनं दृक्कर्म एव ग्राह्यम्। परन्तु आचार्यैः सर्वत्र लङ्कादेशीयग्रहाणामाधारेण देशान्तरचरान्तर-संस्कारयोः साहाय्येन स्वदेशीयाः ग्रहाः साधिताः । ज्योतिषशास्त्रे स्वदेशीय-ग्रहाणां तिथिवारादीनां च साधनं विहितम् । स्यान्नाम क्वचिद् धर्मशास्त्रे लङ्कादेशीयतिथिप्रतिपादनम् ज्योतिषशास्त्रे तु नैतत् क्वाप्युक्तम् ।

एवं ध्रुवप्रोतीयतिथ्यानयने समागतानां दोषाणां विवेचनं प्रदर्शितम्। अग्रे विचारणीयोऽयं विषयो यत् केन प्रकारेण सूर्यसिद्धान्त प्रक्रियया साधिता ग्रहा दृक्सिद्धतुल्या भविष्यन्ति? येन पञ्चाङ्गार्थं वयमाङ्गलदेशीयानां मुखापेक्षणं न कूर्मः, परमिदं निश्चप्रचं यद् दृक्सिद्धसूर्याचन्द्रमसोरन्तरेण समागता तिथिः 'बाणवृद्धिरसक्षयात्मिका' कथमपि न भविष्यति। केवलं प्राचीनपञ्चाङ्गेषु तिथेर्मानमल्पतमं ५४ घटिकां यावदधिकतमं च ६५ घटिकां यावद् दृश्यते। इदानीन्तनेषु पञ्चाङ्गेषु यत्र स्फुटा दृक्सिद्धग्रहाः स्थापिताः सन्ति, तत्र तिथेर्मानमल्पतमं ५० घटिका यावदधिकतमं च ६७ घटिका यावद्भवति।

अत्रायमेव हेतुः—

प्राचीनाचार्यैश्चन्द्रस्य मन्दान्त्यफलज्याया मानं ५° अंशात्मकं स्वीकृतम्, आधुनिकैर्विद्वद्भिः ६ १/२° अंशात्मकं च स्वीकृतम्। सूर्यस्य दैनिकी मध्यमा अधिकतमा न्यूनतमा च गतिरुभयोर्मते तुल्यास्ति, यथा क्रमेणास्या मानम् ५९, ६१, ५७ इति। एवं चन्द्रस्यापि दैनिकी मध्यमागतिरुभयोर्मते तुल्या एव। अस्या मानम् १३.११' स्वल्पान्तरतः। परन्तु चन्द्रस्य मन्दान्त्यफलज्याया नवीनप्राचीनमतयोः पृथक् पृथग् ग्रहणात् चन्द्रस्य दैनिकाधिकतमायां न्यूनतमायाञ्च गत्यां महदन्तरं प्राप्यते।

अतः 'बाणवृद्धिरसक्षयः' इत्ययं सिद्धान्तो ज्योतिषशास्त्रस्य नियामको नास्ति। साम्प्रतं 'सप्तवृद्धिदशक्षय' इति पक्षो वर्तते। आगामिशतकेष्विदमन्तरं कियद् भविष्यतीत्यपि साम्प्रतं वक्तुं न प्रभवामः। यदि कश्चिदुपायः 'बाणवृद्धी रसक्षयः' इति पक्षस्य दृकप्रत्ययकारितायाश्च सहैव कर्तुं समर्थश्चेत्, तथा तादृश उपायो मार्गितव्यः। स च विद्वद्भिरवश्यं समादरणीय इति।



# सूर्यस्य सहस्त्ररश्मित्वम्

एष सहस्त्ररश्मिर्भगवान् भास्करः भुवनं परितः[1] भ्रमन् विश्वं विभावयन् लोके स्वकीयं महत्त्वं वैशिष्ट्यञ्च स्वयमेव प्रकटयति। वेदेषु पुराणेषु च सहस्त्ररश्मिः सूर्यः जगदुत्पादकत्वेन[2] वर्णितः। साम्प्रतं वैज्ञानिकैरपि विविधप्रयोगैः सूर्यमण्डलस्य भौतिकं विश्लेषणं कृत्वा प्रतिपादितं यदस्य जगतः सृष्टिकर्त्ता सूर्य एवास्ति। वयमपि प्रत्यक्षरूपेणानुभवामो यन् न केवलं सूर्यरश्मिभिर्मानव-चतुष्पद-कीट-पतङ्गादिजङ्गमेषु भवति प्राणसञ्चारः, अपि तु स्थावरेषु वृक्षलतावीरुत्स्वपि । सूर्यं विना सर्वेषां प्राणसञ्चारोऽवरुद्धो भवेदितीत्यत्र नास्ति सन्देहः। दिनरात्रिव्यवस्था, समस्तानि कालमानानि चैनं विना विनष्टानि भवन्ति। सौररश्मीनां महत्त्वं विज्ञायाधुनिकवैज्ञानिका अहर्निशं सौरमण्डलस्य सौररश्मिभ्यश्च समुद्भूतानां प्रभूतानामूर्जानामध्ययने निरताः सन्ति। यद्यपि भारतीये वाङ्मये सौरमण्डलस्यैवंभूतं भौतिकं विश्लेषणं विस्तरेण नोपलभ्यते तथापि सूर्यरश्मीनां विवेचनं तु सौरमण्डलापेक्षया विस्तरेण पुराणेषूपलभ्यते। उष्णरश्मिः, सप्तरश्मिः, सहस्त्ररश्मिः, सहस्त्रांशुरिति सूर्यनामभिर्ज्ञायते। यत् सूर्यस्य रश्मीनां विवेचनानन्तरमेव नामान्येतानि ज्ञातानीति। तथाहि 'सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तानाम्[3]।। इत्यत्र सप्ताश्वाः सप्तरश्मीनां परिचायकाः सन्तिः। सूर्यमण्डलात् असंख्यातरश्मयः युगपदेव सततं निस्सरन्ति। रश्मयः विभिन्नान् गुणान् धारयन्ति। अतस्तेषां कार्याणि अपि भिन्नानि एव भवन्ति। एतेषां गुणकर्मविभागेन सप्तधा वर्गीकरणं बुधैः कृतम्। तथा चोक्तं महर्षिणा व्यासेन—

**"सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च।**
**विश्वव्यचा पुनश्चान्यः संयद्वसुरतः परः।**
**अर्वावसुरिति ख्यातः स्वराडन्यः प्रकीर्तितः।**
**सुषुम्नः सूर्यरश्मिस्तु पुष्णाति शिशिरद्युतिम्।।"**[4]

---

१. ऋ० सं० १।१६४।१४।

२. चन्द्रऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेया सूर्यसम्भवा।। ब्रह्माण्ड पु० २।२४।४६।

३. ऋ० सं० १।१६४।२।

४ कू० पु० १।४१।३-४।

'सुषुम्ना, हरिकेशः, विश्वकर्मा, विश्वव्यचा, संयद्वसु, अर्वावसु स्वराड् चैते सप्तरश्मयः सन्ति। एषु प्रत्येकं रश्मिः भिन्नं-भिन्नं ग्रहं पोषयति दीपयति च। यथा—

| | **रश्मयः** | **पोषितग्रहाः** |
|---|---|---|
| १. | सुषुम्ना | चन्द्रः |
| २. | हरिकेशः | नक्षत्राणि |
| ३. | विश्वकर्मा | बुधः |
| ४. | विश्वव्यचा | शुक्रः |
| ५. | संयद्वसु | भौमः |
| ६. | अर्वावसु | गुरुः |
| ७. | स्वराड् | शनिः |

शनेः नक्षत्राणाञ्च कक्षायाः[१] अतिदूरत्वात् एषु सप्तसु रश्मिषु सुराड् (स्वराट) हरिकेशयोः विस्तारक्षेत्रं सर्वाधिकं विद्यते। एतेषां सप्तरश्मीनाम् अन्येऽपि सूक्ष्म-विभागाः भवन्ति। तत्र रश्मीनां संख्याप्रदर्शनपुरस्सरं विवेचनं पुराणेष्वेवं वर्तते।

सुषुम्नादीनां सप्तरश्मीनां प्राधान्येन त्रयो भेदाः भवन्ति । तत्र प्रथमः १-वृष्टिसर्जना नाडी, २- द्वितीयः हिमसर्जना नाडी, ३- तृतीयश्च घर्मसर्जना नाडी । आसां विस्तारश्चैवम्—

१. वृष्टि-सर्जनानाडी[२]— इयं नाडी अमृतासंज्ञका भवति । अस्याश्चत्वारो भेदाः भवन्ति । तत्र शतसंख्याकाः रश्मयः जायन्ते । यथा—

| | |
|---|---|
| (क) वन्दना | १०० रश्मयः |
| (ख) याज्या | १०० ,, |
| (ग) केतना | १०० ,, |
| (घ) भूतना | १०० ,, |

---

१. भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षावृत्तैर्वृत्तो वृत्तः सन् मृदनिल-सलिलव्योमतेजोमयोऽयम्। (सि० शि० गो० भु० को० २)

२. कू० पु० १.४१.११-१२।

अनया रीत्या अमृतासंज्ञकानां रश्मीनां योग: ४०० चतु:शतम्।

२. हिमसर्जना नाडी[1]— इयं चन्द्रासंज्ञका भवति । अत्र त्रयो भेदा समुपलभ्यन्ते।

| | |
|---|---|
| (क) मेष: | रश्मय: १०० |
| (ख) पौष्य: | रश्मय: १०० |
| (ग) ह्लादिन्य: | रश्मय: १०० |

चन्द्रा-संज्ञकानां योग: ३०० शतत्रयम्।

३. घर्मसर्जना नाडी[2]— इयं शुक्रा-संज्ञका भवति । अत्रापि त्रयो भेदा भवन्ति।

| | |
|---|---|
| (१) ककुभ: | १०० रश्मय: |
| (२) गाव: | १०० रश्मय: |
| (३) विश्वभृत: | १०० रश्मय: |

शुक्रासंज्ञकानाञ्च योग: शतत्रयं भवति।

एवं अमृता + चन्द्रा + शुक्रा = ४०० + ३०० + ३०० = १००० रश्मय: भवन्ति।[3] एते सहस्त्ररश्मय: सूर्यस्य सहस्त्ररश्मिरित्यभिधाने प्रमाण-भूता: सन्ति।

आधुनिकैरपि वैज्ञानिकै: सूर्यरश्मीनां विश्लेषणं कृत्वा प्रमुखा: सप्त-वर्णात्मका: सप्त एव विभागा: कृता: । अनन्तरं त्रिपार्श्वै : (Prism) शीशकै: सप्तवर्णान् पृथक् प्रदर्श्य चित्रमपि गृहीतम् । अनन्तरं वर्णचित्र - (Spectrum) प्रक्रियाया: विकासेन सह सौररश्मीनां सूक्ष्मातिसूक्ष्मं विश्लेषणं तै: कृतम्। वर्णचित्र - (Spectrum) प्रक्रियया कस्यचिदपि पिण्डस्य वस्तुनो वा भौतिकं ज्ञानं कर्तुं शक्यते। सौरमण्डलं कीदृशम् ? तत्र कीदृग्विधानां बाष्पानां समाहार:, अन्ये च के बाष्पीभूता: पदार्था:[3] इति सर्वेषां प्रश्नानामुत्तरं वर्णक्रमचित्र- (Spectrum) द्वारा प्राप्तुं शक्यते । रश्मीनां विश्लेषणे यथा-

---

१. कू० पु० १.४१.१३।

२. कू० पु० १.४१.१४।

३. The universe pp. 46-51 Pub. Life nature library 1964.

यथा सूक्ष्मयन्त्राणां प्रयोगः क्रियते तथा तथा किरणानां सूक्ष्मविभागाः दृश्यन्ते। रश्मीनां विश्लेषणं सूक्ष्मेक्षणञ्चाहर्निशमद्यापि वैज्ञानिकैः सम्पाद्यते।

भारतीयज्यौतिषशास्त्रे द्वादशादित्यानां विवेचनमुपलभ्यते। एषु द्वादशादित्येषु एकैकः सूर्य एकैकमासे उदितो भवति। एवं द्वादशमासेषु द्वादशादित्याः[1] पृथक-पृथक् रश्मिभिः प्रदीप्ता भवन्ति। एषां नामानि मासाः रश्मिसंख्या वर्णाश्च अधोऽङ्किता वर्तन्ते[2]।

| | **नामानि** | **मासाः** | **रश्मिसंख्या** | **वर्णाः** |
|---|---|---|---|---|
| १. | वरुणः | माघः | ५००० | लोहितः |
| २. | पूषा | फाल्गुनः | ६००० | लोहितः |
| ३. | अंशः | चैत्रः | ७००० | कपिलः |
| ४. | धाता | वैशाखः | ८००० | कपिलः |
| ५. | इन्द्रः | ज्येष्ठः | ९००० | काञ्चनः |
| ६. | सविता | आषाढ़ः | १०००० | काञ्चनः |
| ७. | विवस्वान् | श्रावणः | १०००० | श्वेतः |
| ८. | भगः | भाद्रपदः | ११००० | श्वेतः |
| ९. | पर्जन्यः | आश्विनः | ९००० | पाण्डुरः |
| १०. | त्वष्टा | कार्तिकः | ८००० | पाण्डुरः |
| ११. | मित्रः | मार्गशीर्षः | ७००० | ताम्रः |
| १२. | विष्णुः | पौषः | ६००० | ताम्रः |

विष्णुपुराणे[3] द्वादशादित्यानां मासनामानि कूर्मपुराणापेक्षया भिन्नानि सन्ति। तानि च अधोऽङ्कितया तालिकया प्रस्तूयन्ते। अत्र चैत्रादिमासक्रमेणादित्यानां नामानि प्रवर्तन्ते। तद्यथा—

| | मासाः | द्वादशादित्याः **कूर्मपुराणे** | द्वादशादित्याः **विष्णुपुराणे** |
|---|---|---|---|
| १. | चैत्रः | अंशः | धाता |
| २. | वैशाखः | धाता | अर्यमा |

---

१. कू० पु० १.४१.१७.१९।
२. कू०पु० १.४१.२०-२३। कू. पु. १.४१.२०-२३
३. विष्णुपुराणम् २.१०-३.१८।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३. | ज्येष्ठ: | इन्द्र: | मित्र: |
| ४. | आषाढ: | सविता | वरुण: |
| ५. | श्रावण: | विवस्वान् | इन्द्र: |
| ६. | भाद्रपद: | भग: | विवस्वान् |
| ७. | आश्विन: | पर्जन्य: | पूषा |
| ८. | कार्तिक: | त्वष्टा | पर्जन्य: |
| ९. | मार्गशीर्ष: | मित्र: | अंश: |
| १० | पौष: | विष्णु: | भग: |
| ११. | माघ: | वरुण: | त्वष्टा |
| १२. | फाल्गुन: | पूषा | विष्णु: |

अत्रोभयो: पुराणयोर्मध्ये मासक्रमे व्यत्यासो दृश्यते। एकत्र नामव्यत्यासोऽपि वर्तते। कूर्मपुराणे एक: सविताख्य: सूर्यो वर्तते य: विष्णुपुराणे नास्ति। तत्र विष्णुपुराणे अर्यमेति नामक: आदित्यो वर्तते कूर्मपुराणे स नास्ति। शेषाणि नामानि उभयत्र समानानि सन्ति। परन्तु रश्मीनां विवेचनप्रसङ्गे कूर्मपुराणेऽपि अर्यमेतिसूर्यस्यैव[1] रश्मित्वेन निर्दिष्ट:, न तु सविताख्यस्य सूर्यस्य। अत: सविता अर्यमेति सूर्ययोरभेद इत्यपि स्वीकर्तुं शक्यते। द्वादशादित्यानां एकस्मिन् वत्सरे मासक्रमेणोदयो भवति। सर्वे आदित्या: एकस्मिन् वत्सरे ९६००० रश्मिभिस्तपन्ति। एता एव रश्मय: शीतोष्णवर्षादीनामुत्पादका: सन्ति।

सर्वेषां ग्रहाणां भूमेश्चोपरि सूर्यरश्मिनां प्रभावमवलोक्य श्रुति: कथयति 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे'ति[2]। होराशास्त्रेऽपि सूर्य: आत्मरूपेणैव वर्णित:[3]। साम्प्रतिकैर्वैज्ञानिकैरपि सौरोर्जाभि: विविधानां संयन्त्राणां सञ्चालनं क्रियते। अनेनापि अस्य आत्मरूपत्वमेव सिध्याति। अत: निर्विवादमिदं वक्तुं शक्यते यदस्य ब्रह्माण्डस्योत्पत्तौ अस्मिन् जीवनसञ्चारे च सूर्यरश्मय एव प्रमाणभूता भवन्ति।



१. अर्यमादशभि: पाति: पर्जन्यो नवभिस्तपेत्॥ (सू० पु० १.४१.८२)
२. ऋ० वे०
३. आत्मा रवि: शीतकरस्तु चेत:। (लघु० पा०)

# भारतीयमृतुविज्ञानम्

[There are chanages in seasons only between the latitudes $10^0$ and $66\frac{1}{2}^0$. Below $10^0$ there is summer throughtout the year, and above $66\frac{1}{2}^0$ there is winter throughtout the year. Between $66\frac{1}{2}^0$ and $10^0$, the number of seasons go on increasing as we go downwards. That is why, our older texts give different accounts of the number of seasons. There is a variation even in timing due to various reckonings. The author advocates the supremacy of the solar methods of time reckoning, and there too he favours the Sāyana system.]

समस्ताकाशीयज्योतिष्पिण्डानाम् अप्रत्यक्षरूपेण प्रभाव: सर्वासां वनस्पतीनां प्राणिनाञ्चोपरि पतति। परं सूर्याचन्द्रमसो: प्रभावस्तु सर्वे जना: प्रत्यक्षरूपेणानुभवन्ति। यद्यपि द्वाविमौ विविधरूपेणास्माकं जीवनेऽनुदिन-मायात: परं कालगणनाया: प्रमुखपात्रत्वेनानयो: प्रतिष्ठा वर्तते। दिनमाना-यनवर्षादीनां कालविभागानामुत्पादकौ इमौ एव। एषु मासानां गणना चान्द्र-मानेन, अन्येषां ऋत्वयनवर्षादीनाञ्च गणना सौरमानेन कर्त्तव्या । उक्तञ्चात्र भास्कराचार्येण सिद्धान्तशिरोमणौ[१]

**वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्रसौरान्**
**मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात् ।**
**यत् कृच्छ्रसूतकचिकित्सितवासराद्यं**
**तत् सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात् ।।**

अत्र विस्तरभयात् नान्येषां कालविभागानां वर्णनं क्रियते मया। केवलं प्रकृतिविषयम् ऋतुमेवानुसरामो वयम् । एकस्मिन् वर्षे द्वादशमासा भवन्ति परं द्वादशसु मासेषु प्राकृतिकी अवस्था समा न भवति। कदाचित् सूर्यस्य भीषणातपेन सन्तप्ता पृथ्वी पाणिनेरिमां पंक्तिं स्मारयति यत् ''क्षमां क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बुसरितां प्रताप्योर्वी कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलमित्यादि: । कदाचिच्चाकाशो मेघाच्छन्नो भूत्वा जलधाराभिर्भूमिमाप्लावयति । कदाचि-

---

१. सि० शि० म० अ० का० ३

च्चाधिक शैत्येन" अपटुतिग्ममरीचिमरीचिभिर्नहि तथा शिशिरे शिशिरक्षतिरिति भास्करोक्तिश्चरितार्था दृश्यते। एतादृशानां प्राकृतव्यत्यासानां क्रमो नियतेनैव कालेन नियतक्रमेण च भवति। सामान्यरूपेण व्यावहारिकभाषायाम् एकस्मिन् वातावरणे एकः ऋतुरिति निगद्यते। यथा यावत् कालपर्यन्तमुष्णता अनुभूयते तावत्कालपर्यन्त ग्रीष्मो यावत्कालपर्यन्तमौष्ण्येन सह वर्षणमवलोक्यते तावद् वर्षाकालो एवं शैत्यमवलोक्य शीतकाल इति अनुमीयते। परमिदं त्रिधा ऋतुपरिवर्तनं पृथिव्यां सर्वत्र कथमपि न द्रष्टुं शक्यते । एषामृतूणां दर्शनं-दश अक्षांशाद् दक्षिणत आरभ्य दशअक्षांशमुत्तरं यावत् तथा च सार्धषड्-षष्ट्यंशादुपरि उत्तरगोले सार्धषटषष्टयंशादुपरि दक्षिणगोले च कथमपि भवितुनार्हति यतो हि १० दश अक्षांशादुत्तरतः १० याम्यदशाक्षांशं यावत् सदैवौष्ण्यं सार्धषट्ष्ट्यक्षांशात्परं सदैव शैत्यमेव भवति। तत्राहर्निशयोः मानमपि बृहत्तरं भवति । ध्रुवप्रदेशे तु षाण्मासिकी रात्रिर्दिवसश्च भवति। अत्र किं कारणम् ? केवलं कान्तिवृत्तस्य ६६ ३/२ सार्धषट्षष्ट्यंशात्मकं नमनमेवात्र मुख्यहेतुत्वेन वर्तते। क्रान्तिवृत्तस्योभयदिशि सार्धत्रयोविंशत्यंशात्मकं क्षेत्रमेव भुक्तिपथम् । अतस्तत्र केवलं औष्ण्यमेव भवति । सार्धषट्षष्ट्यक्षांशात्परं सौरप्रकाशस्य विकिरण प्रक्रिया ऊर्जाहीना भवति । अतस्तत्र केवलं सूर्योदयेन रात्रिदिवसयोः पार्थक्यमेव प्रतीयते । तत्र सूर्यकिरणैरूष्मा नोत्पद्येत । परिणामतस्ते प्रदेशा : सर्वदा हिमाच्छन्ना एव भवन्ति । यदा ध्रुवप्रदेशात् भूमध्यरेखां प्रति वयमग्रसरा भवेम क्रमेण ऋतवो वर्धमाना भविष्यन्ति । कुत्रचिद् द्वौ, कुत्रचित् त्रयः कुत्रचिच्च षड्ऋतवः भवन्ति । अस्माकं देशेऽपि षड्ऋतवो भवन्ति। येषां नामानि-वसन्तः, ग्रीष्मः, वर्षा, शरद्, हेमन्तः, शिशिरश्चेति। मासद्वयात्मकं कालं यावदेकः ऋतुः प्रचलति। परं व्यवहारे मासगणनायां मतभेदोऽस्ति। यद्यपि भास्कराचार्येण स्पष्टरूपेणोक्तं यत् ऋतुअयनादीनां गणना सौरमानेनैव कर्त्तव्या परं दृश्यते यद् बहवो विद्वांसश्चान्द्रमानेन गणनां स्वीकृत्य चैत्रवैशाखयोः वसन्तः, ज्येष्ठाषाढयोः ग्रीष्मः, श्रावणभाद्रपदयोः वर्षा, आश्विनकार्तिकयोः शरत्, मार्गशीर्षपौषमासयोः हेमन्तः, माघफाल्गुनयोः शिशिरश्चेति कल्पना कृता। अस्य विवादास्पदविषयस्य निर्णयार्थं यदा अस्माकं सांस्कृतिक निधिस्वरूपा वेदा अस्माभिरवलोक्यन्ते तदा इयं समस्या अतीव दुरूहा भवति । यतो हि तत्र वेदेषु ऋतूनां संख्या अपि निर्णीता नास्ति। शतपथ ब्राह्मणे[1] केवलं त्रयाणाम्

१. शत. ब्रा. ३।८।४।१७

ऋतूणामेवोल्लेखो वर्तते। तैत्तरीयब्राह्मणे[1] ऋतूणां पञ्चसंख्या निर्दिष्टा। अत्रेयं शंका समुद्भवति यत् पञ्चानां ऋतूनामुल्लेखं विधाय कस्यैकस्य ऋतो: बहिष्कार: कृत:। अस्या समाधानं तैत्तरीयब्राह्मणे मया नोपलब्धम्। परमस्या शंकाया ऐतरेयब्राह्मणे समाधानं दृश्यते तत्र लिखितं वर्तते स्पष्टरूपेण — "द्वादशमासा: पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयो: समासेन[2]।" तैत्तरीयब्राह्मण:[3] स्वपक्षस्य पुष्ट्यर्थं संवत्सरं पक्षिरूपं परिकल्प्य तस्य शरीरे ऋतूनां सन्निवेशपूर्वकं वर्णनं कृतवान्। तत्र पक्षिरूपस्य वत्सरस्य मुखो वसन्त:, पृष्ठ: हेमन्त:, वामपक्षश्शरद्, दक्षिणपक्षो ग्रीष्म:, पुच्छभागश्च वर्षाऋतुर्विद्यते। परं तैत्तरीयसंहितायां[4] षड्ऋतूनामुल्लेखो वर्तते। एवं वेदेष्वेव मतान्तरमवलोक्यास्माकं मनीषा सिद्धान्तद्वयमेव युक्तिसंगतं स्वीकरोति। एकस्तु ऋग्वेदीय: पन्था: यस्य प्रतिपादनं शतपथब्राह्मणे वर्तते। तत्र शिशिरवसन्तयो: समासेन वसन्त:, ग्रीष्मस्य वर्षायाश्च समाहारेण वर्षा, शरद् हेमन्तयो: संयोगेन शरदृतोश्च कल्पना कृता। एवं तत्र त्रयाणामेव ऋतूणां गणना विद्यते। द्वितीश्च तर्कसंगतस्तैत्तरीयसंहिताया: सिद्धान्तो वर्तते। यत्र षण्णामृतूनां वर्णनमस्ति। पञ्चानामृतूनां वर्षेण सह समन्वयं नास्ति। आसां वैदिक-युगीनमान्यतानामाधारेणेदं वक्तुं प्रभवामि यत् सर्वप्रथमं त्रयाणामेव ऋतूणां कल्पना कृता। अनन्तरं प्रत्येकस्य भागद्वयं विधाय षण्णाम् ऋतूनां गणना कृता।

अग्रे इदं विचारणीयमस्ति यद् ऋतूनां गणना कदा प्रभृति कर्त्तव्या ? अस्मिन् विषये त्रिविधा धारणा प्रमुखरूपेण दृश्यते। तत्र प्रथमा चान्द्रमासेन यथा-पूर्वोक्तरीत्या चैत्रादारभ्य वैशाखमासं यावद् वसन्त इत्यादि:। अस्य मतस्य समर्थका वेदा अपि सन्ति। वेदोक्तं ऋतुकालविभाजनमेवम् —

मधुमाधवौ वसन्त:, शुक्रशुची ग्रीष्म:, नभस् नभस्यौ वर्षा, इषऊर्जौ शरद् सहस् सहस्यौ हेमन्त:, तपसतपसी च शिशिर इति।

द्वितीया सैद्धान्तिकी सायनसरर्णिवर्तते। अस्यां सायनसूर्यस्य संक्रमणवशात् ऋतुज्ञानं क्रियते। यथा— सायनसूर्यो यदा मीन राशौ प्रविशति तदा

---

१. तै. ब्रा. २।७।१०
२. ऐ. ब्रा. १।१
३. ३।१०।४१ तै. ब्रा.
४. तै. सं. ४।३।१२ ; ५।६।२३

वसन्तारम्भः। प्रायः फरवरीमासस्यैकोनविंशति तारिकायां सायनसूर्यो मीनराशिमेति। ततः प्रभृति अप्रैलमासस्यैकोनविंशति तारिकां यावत् वसन्तकालः। मार्चमासस्यैकविंशति तारिकायां सायनसूर्यो मेषादौ भवति तदेव वसन्तसम्पाताख्यं स्थानम्। वसन्तऋतोर्मध्यविन्दुत्वादस्य वसन्तसम्पातेति नामकरणं कृतमाचार्यैः।

तृतीया सैद्धान्तिकी निरयणपद्धतिर्वर्तते। इयमपि सङ्क्रान्त्यानुवर्तिनी। परमत्र निरयनसूर्यस्य यदा प्रवेशो मीनराशौ भवति तदा वसन्तारम्भः। सम्प्रति अयनांशो द्वात्रिंशदंशादिर्वर्ततेऽतः सायनसङ्क्रमणाद् द्वात्रिंशद्दिवसानन्तरं मार्चमासस्य चतुर्दशतारिकायां निरयनमीनसङ्क्रान्तिर्भवति ततः प्रभृति निरयनवसन्तारम्भः।

मूलतः सायन-निरयणात्मकावुभौ सिद्धान्तौ अभिन्नावेव, परं आयनचलने मतैक्याभावे सायननिरयणसिद्धान्तौ परस्परं भिद्येते। सूर्यसिद्धान्तमतानुयायिनोऽयनस्य दोलात्मिकागतिं स्वीकुर्वन्ति। तेषां मते अयन अर्थात् वसन्तसम्पातः सप्तविंशत्यंशं यावदुदग् दिशि गत्वा पुनः प्रत्यावर्तति। ततः सप्तविंशत्यंशात्मकं याम्यदिशि गच्छति अनन्तरं प्रत्यावर्त्य पुनः वसन्तसम्पातमेति। परं परवर्ति आचार्यैर्बापूदेवशास्त्रिप्रभृतिभिर्विद्वभिः, अस्य मतस्य खण्डनं कृतम्। तैः अयनस्य चकभ्रमणात्मिका गतिः स्वीकृता। मतमिदमाधुनिकैः पाश्चात्यैर्विद्वभिरपि समादृतमस्ति। प्राचीनाचार्येष्वपि द्वौ विद्वांसौ आस्तां याभ्याम् अयनस्य चक्रभ्रमणसिद्धान्त उद्घोषितः। सर्वप्रथमं द्वात्रिंशदुत्तरनवशततमे ईस्वीयवत्सरे मुञ्जालभट्टेनायनस्य चक्रभ्रमणात्मिका गतिरूद्घोषिता। अनन्तरं पञ्चाशदुत्तरनवशततमे ईसवीयवत्सरे पृथूदकस्वामिना अस्य मतस्य समर्थनं कृतम्। अनयोराचार्ययोः पक्षस्य सम्यक् प्रचारोऽभूत्। चिरकालानन्तरं वाराणस्यां गवर्नमेन्टसंस्कृतकालेजः यः सम्प्रति संस्कृतविश्वविद्यालये परिवर्तितो वर्तते तस्मिन् प्राध्यापकपदे नियुक्ताः म.म.पं. बापूदेवशास्त्रिमहाभागाः पुनः मुञ्जालमतं समर्थयन्तः सायनपञ्चाङ्गस्य निर्माणं चक्रुः तैरुक्तं यत् निरयनसङ्क्रमणं न तथाविधं सूक्ष्मं शुद्धं च यथा सायनसङ्क्रमणं यतो हि निरयनराशीनां दक्षिणोत्तरगोलार्धयोः क्रान्तिवृत्तेन च सह न कोऽपि दिक् सम्बन्धः। अतः धार्मिक कृत्यानां कृतेऽपि निरयनप्रणाल्या मुखापेक्षी अस्माभिर्न भवितव्यम्। अस्माभिः सायनमतमेव स्वीकर्त्तव्यम्।

साम्प्रतं पाश्चात्यैर्विद्वद्भिरपि सायनगणना एव स्वीकृता। वस्तुतः सायनपद्धतिरेव शुद्धा वर्तते। सायनमतेन ऋतुगणना अनेन क्रमेण भवति —

फरवरीमासस्यैकोनविंशति तारिकातः अप्रैलमासस्यैकोनविंशति तारिकां यावत् मीनमेषयोः षष्टिदिनात्मकः कालो वसन्तऋतोः, अप्रैलमासस्य विंशतितारिकातः जूनमासस्य विंशतितारिकां यावत् द्विषष्टिदिवसात्मको ग्रीष्मऋतुः, तदनन्तरमगस्तमासस्य द्वाविंशति तारिकां यावत् कर्कसिंहापमयोः त्रिषष्टिदिवसात्मकः कालो वर्षाऋतोः, ततः अक्टूबरमासस्य द्वाविंशति तारिकां यावत् एकषष्टिदिवसात्मकः शरदृतोः कालः अस्मिन् समये कन्यायां तुलायां च सायनसूर्यो भवति । ततः वृश्चिकधनुषापमयोः दिसम्बरमासस्यैकविंशति दिनांकं यावत् षष्टिदिनात्मकः कालः हेमन्तस्य, अनन्तरं फरवरीमासस्याष्टादशदिनांकं यावद् एकोनषष्टिदिवसात्मकः शिशिरस्य कालो भवति। एष ऋतूनां भोग्यकालानां योगः पञ्चषष्ट्यधिक शतत्रयदिनात्मको भवति।

अनेनेदं स्पष्टं भवति यत् सर्वेषां ऋतूनां दिवसात्मकः परिणामः समो नास्ति । एषु सर्वाधिकः कालः त्रिषष्टिदिवसात्मको वर्षाऋतोः सर्वाल्पश्च एकोनषष्टिदिवसात्मकः शिशिरस्य वर्तते। अस्याः न्यूनाधिकतायाः परिणामो भारतीयैर्ज्योतिविद्भिः चिरपूर्वमेव ज्ञातं आसीत् शनैः शनैः तैः अस्याः समुचितं कारणमपि अन्वेषितम्। पश्चात् ग्रीकदेशीयैरपि विद्वद्भिः अस्या स्फुटं ज्ञानं प्राप्तम् । परं ग्रीकप्रभृति पाश्चात्यानाम् ऋतुगणना भारतीयऋतुगणनया भिद्यते । तैः मासत्रयात्मिका चतुर्णामृतूनां कल्पना कृता । एषां क्रमश्चैवम्—वसन्तः, ग्रीष्मः, शरत् शिशिरश्चेति ।

एषां मानं कालभेदेन स्थानभेदेन च पृथक्-पृथक् आसीत् यथा खाल्डियन, या पाश्चात्यानां सर्वप्राचीना वैज्ञानिकी सभ्यता आसीत् तस्य पद्धत्यनुसारेण वसन्तस्य कालः सार्धचतुर्नवति (९४.५) दिवसात्मकः, ग्रीष्मस्य पादोनत्रिनवति (९२.७३) दिवसात्मकः, शरदृतोः सार्धाष्टाशीतिः (८८.५८) दिवसात्मकः शिशिरस्य च सार्धैकोननवति (८८.४४) दिवसात्मकः, कालः स्वल्पान्तरत्वेन वर्तते। एषां दिनानां योगः सपादपञ्चषष्ट्यधिक शतत्रयदिनात्मकः वस्तुतः एकस्मिन् वर्षे दिनसंख्या एतावती एव भवति । भारतीयमतेऽपि वर्षे दिनसंख्या (३६५।१५।३१।३०) पञ्चषष्ट्यधिकशतत्रयदिनानि पञ्चदशघट्यः, एकत्रिंशत् कलाः, त्रिंशद् विकलाश्च स्वीकृता ।

खाल्डियनसिद्धान्तातिरिक्तं पाश्चात्यानामितिहासे युक्टमनकैलिप्पस पद्धत्योर्मान्यतावलोक्यते । तत्र युक्टमनपद्धति : 'द्वात्रिंशदधिकचतुश्शतवर्षे

ईसापूर्वे प्रचलिता आसीत् । अनन्तरं सप्तत्यधिकशतत्रयवर्षे ईसापूर्वं कैलिप्पस पद्धति : प्रचलिता आसीत् । उभयोर्मते एकस्मिन् वर्षे चत्वार: ऋतव एव स्वीकृता आसन् परं तत्र दिवसात्मको भेदो यथा—

युक्टमनपद्धत्यां वसन्तस्य त्रिनवतिदिनानि (९३), कैलिप्पस पद्धत्यां चतुर्नवतिदिनानि (९४), ग्रीष्मस्य नवति (९०) युक्टमनदिनानि, द्विनवति (९२) च कैलिप्पस दिनानि, शरदृतो: नवति (९०) युक्टमनदिनानि, एकोननवति (८९) कैलिप्पसदिनानि, शिशिरस्य च द्विनवति (९२) युक्टमन दिनानि, नवति (९०) च कैलिप्पस दिनानि भवन्ति। अनयोर्मते वर्षस्य पञ्चषष्ट्युत्तरशतत्रय दिनानि एव स्वीकृतान्यासन् ।[१]

खाल्डियनपद्धति: सूक्ष्मत्वेन प्रायशोऽद्यापि सर्वत्रैव स्वीकृता वर्तते पाश्चात्यदेशेषु । एवं पाश्चात्यऋतुगणनायां वर्षाऋतो: स्वतन्त्रमस्तित्त्वं नावलोक्यते। परं भारतीयगणनायां वर्षाऋतो: न केवलं स्वतन्त्रमस्तित्वमेव स्वीकृतं अपितु सविस्तरं वर्णनं वर्षा ऋतो: पृथगेव कृतम् । यद्यपि सर्वेषां ऋतूणां प्रभाव: मान्वजीवनोपरि वनस्पतीनाञ्चोपरि पतति। परमन्येषां ऋतूणां न तथा विधा प्रतीक्षा जनै: क्रियते यथा वर्षाया: । अत: शास्त्रेषु केवलं कदाप्रभृति ऋतोरारम्भ: कदा च तस्य समाप्तिरित्येतावदेव वर्णनमुपस्थापितम् । यतो हि आमूलं कृषिकर्म वृष्टेरुपरि एव आधृतमस्ति । उक्तञ्च पराशरेण —

**वृष्टिमूला कृषिः सर्वा वृष्टिमूलं च जीवनम्।**
**तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टिज्ञानं समाचरेत्।।**[२]

ये कृषका: न सन्ति तेऽपि वर्षाया: प्रभावेण प्रभाविता भवन्ति । यथा गृहनिर्माणगृहसुरक्षादि -कार्याणि वर्षाकाले न भवितुमर्हन्ति। सम्प्रत्यस्मिन् वैज्ञानिके युगे गृहसुरक्षाया: ईन्धनसञ्चयादि कार्याणाञ्च महती आवश्यकता न भवति पर किञ्चित् कालात्पूर्व जना वर्षाकालं सन्निकटं विज्ञाय आवश्यक-वस्तूनां सञ्चयं कुर्वन्ति स्म। न केवलं मानवा एव वर्षाजनित दु:खेन सुखेन वा प्रभाविता भवन्ति अपितु कदाचिद्देवा अपि प्रभाविता भवन्ति। यथा वामन-पुराणे विवाहानन्तरं शिव: पार्वत्या सह् सम्पूर्णग्रीष्मकालं वृक्षाच्छायान्तरे यापित-वान् । वर्षाकालमासन्नं विज्ञाय वर्षाभयेन भीता पार्वती शंकरं प्रति जगाद —

१. पञ्चाङ्ग सु. पु. पृ. ३०९
२. कृ. पा. १०

**कथं हि देवदेवेश प्रावृट्कालो गमिष्यति ।**

**वृक्षमूले स्थिताया मे सुदुःखेन वदाम्यतः ।।**[१]

अर्थाद् ग्रीष्मकालस्तु अस्माभिः वृक्षमूले यापितः परं गृहं विना वर्षाकालः कथं यास्यति इति मम मनसि महती चिन्ता वर्तते। अत्र पार्वत्याः चिन्ता समुचिता आसीत् । नारीस्वभावेन सा गार्हस्थ्य जीवनस्य सर्वोपयोगि वस्तु गृहमचिन्तयत् । परं योगे निरतस्य शंकरस्य हृदि गृहस्य कल्पनापि न समुद्गता तेन सहजभावेनोक्तम् —

**घनावस्थितदेहायाः प्रावृट्कालः प्रयास्यति ।**

**यथाम्बुधारा न तव निपतिष्यन्ति विग्रहे ।।**[२]

पार्वति ! मा भैषीः ! वर्षाकालं मेघानामुपरि स्थित्वा यापयिष्यावः। तत्र जलधारा तव शरीरे न पतिष्यति । शंकरस्तु सर्वशक्ति सम्पन्नोऽतस्तैरेतादृशी युक्तिर्विहिता। परमस्मादृशानां जनानां कृते तु वर्षाकालस्य यापनार्थं गृहस्य महती आवश्यकता भवति। अस्माद्धेतोः शास्त्रकारा वर्षाज्ञानाय बहुप्रयासं कृतवन्तः ।

यद्यपि वर्षांऋतोः प्रारम्भः जूनमासस्यैकोनविंशतिदिनङ्काद् भवति। परं कस्मिन् दिने वृष्टिर्भविष्यति इति निश्चितं नास्ति। वर्षणतिथेः ज्ञानाय मेघगर्भस्तस्य पुष्टिः ग्रहचारः आकाशलक्षणं शकुनानि चावलोक्यन्ते । यतो हि एतेषां प्रभावो मेघस्योपरि पतति । वर्षणसिद्धान्तविषये वायुपुराणे उक्तं विद्यते —

**आदित्यपीतं सूर्याग्नेः सोमं संक्रमते जलम्।**
**नाडीभिर्वायुयुक्ताभिर्लोकाधानं प्रवर्तते।।**
**यत्सोमात्स्रवते सूर्यं तदभ्रेष्ववतिष्ठते ।**
**मेघावायुनिघातेन विसृजन्ति जलं भुवि ।।**[३]

अर्थात् सूर्यः स्वप्रखरकिरणैः जलाशयानां वनस्पतीनाञ्च जलं संशोष्य

---

१. वा. प्र. १.२८

२. वाम पु० १.१२९

३. वायु पु० १।५१।१४-१५

वाष्परूपेण चन्द्रमसि स्थापयति । चन्द्रस्तं वाष्पं सरसं घनीभूतं च विधाय मेघेषु स्थापयति । मेघा वायुना ताडिता भूत्वा पृथिव्युपरिजलवर्षणं कुर्वन्ति ।

परं कदा मेघा वर्क्ष्यन्ति इति अन्यः प्रश्नः । अत्र वृष्टेः कालज्ञानाय एका पराशरोक्ता विधिर्निर्दिश्यते । मेघा आधानात् पञ्चनवत्युत्तरशततमे दिवसे वर्षणं कुर्वन्ति । इति सामान्यो नियमः यथोक्तं वृहत्संहितायां वराहमिहिराचार्येण —

**यन्नक्षत्रमुपगते गर्भश्चन्द्रे भवेत् स चन्द्रवशात् ।**

**पञ्चनवते दिनशते तत्रैव प्रसवमायाति ।।**[१]

अतः वर्षणकालज्ञानाय मेघस्याधानकाल एव ज्ञातव्यः । तस्याधारेणैव वृष्टे : दिवस्य ज्ञानं भवितुमर्हति । आधानकालस्य परीक्षणमतीव विस्तरं तस्य सन्निवेशोऽस्मिन् लघुनिबन्धेऽसुकरं विज्ञायैका सरला स्वानुभूता च विधिरुपन्यस्यते—

प्रतिवर्षे पौषमासस्य वायोः परीक्षणं कर्त्तव्यम् । अहोरात्रे यस्मिन् समये यो वायुः प्रचलेत् तस्याङ्कनं समयपुरस्सरं कर्त्तव्यम् । सार्द्धद्वयदिनात्मको वायुः एकमासस्य वृष्टेः परिचायको भवति । यथा पौषस्य प्रथमदिवसादारभ्य तृतीयदिवसस्य मध्याह्नकालं यावत् यादृक्वायुः प्रचलित, तादृशी एव वृष्टिः पौषमासात् सार्धषड्मासानन्तरम् अर्थात् ज्येष्ठमासस्योत्तरार्धादिकमासपर्यन्तं भविष्यति । एवं पौषमासस्य त्रिंशद्दिवसेषु सार्द्धद्वयदिवसात्मका द्वादशमासा भविष्यन्ति । सार्धद्वयदिवसेषु पञ्चाशदुत्तरशत घट्यः भवन्ति । तत्र पञ्च - पञ्च घट्यात्मको दिवसो ज्ञेयः । एवं पञ्चाशदुत्तरशतदिवसेषु त्रिंशद्दिनानि भविष्यन्ति । तत्र पञ्चघटीषु सार्धद्वयघट्यात्मकः पूर्वार्द्धस्य कालो दिवसस्य, उत्तरार्धस्य च सार्धद्वयघटिकात्मकः कालः रात्रेः परिचायको भवति। अनया रीत्या पौषस्य यस्मिन् दिने यस्मिन् क्षणे पश्चिमोत्तरो वा पवनः प्रचलेत् तत्सम्बन्धिकाले वृष्टिः, यस्मिन् समये पूर्वदिक्को दक्षिणदिक्को वा वायुः प्रचलेत् तत्सम्बन्धिकाले अवृष्टिरिति ज्ञेया।

अत्रेदमप्यवधेयं यद् एकस्मिन् स्थले वृष्टिसम्बन्धि-लक्षणमवलोक्य सार्वत्रिकीं वृष्टिं ज्ञातुं न शक्यते। सार्वत्रिकवृष्टिज्ञानाय देशाः त्रिधाः विभक्ताः सन्ति-अनूपः जाङ्गलः मिश्रश्चेति । यथोक्तं वृष्टिप्रबोधे —

---

१. वृ. सं. २१७

**अनूपो जाङ्गलो मिश्रस्त्रिधा देशो बुधैर्मतः।**

**तत्तत्स्वभावं विज्ञाय जलवृष्टिं निवेदयेत्।।**[१]

त्रिविधा भूमेर्लक्षणमपि तत्रैव वर्णितं ग्रन्थकारेण—

**नदीपल्लवशैलाढ्यः मृदुवातातपान्वितः।**

**अनेकवनशस्याढ्यः सोऽनूपो देश उच्यते।।**

**स्वल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः।**

**स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादि संयुतः।।**

**संसृष्टलक्षणो यस्तु देशः साधारणो मतः।**

**समा साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुतः।।**[२]

एवं सार्वत्रिकं सर्वेक्षणं विधाय तात्कालिकं वायस-पीपिलिकादेशशकुनं, धूम्रनिर्घातादिकमुत्पातानाञ्चावलोकनं कृत्वा वर्षणज्ञानं कर्त्तव्यम्।

एवं षट्सु ऋतुषु विशेषोपयोगिनं वर्षाऋतुं विज्ञायात्र वर्षाया वर्णनं संक्षेपेणोपस्थापितम्। ऋतुविज्ञानस्य प्रयोगशालायां सर्वकारैः नियुक्ता वैज्ञानिकाः सततमाकाशमधीत्य वृष्टिसम्बन्धि पूर्वसूचनां प्रसारयन्ति। परं ते भारतीय सिद्धान्तस्यानुसरणं न कुर्वन्ति। अतस्ते शतप्रतिशताः सफला न भवन्ति। यदि तैः भारतीयमृतुविज्ञानमपि अङ्गीक्रियते तदा लोककल्याण-दृष्ट्या वैज्ञानिकदृष्ट्या च महत्वावहं साफल्यं भवेदिति।



---

१. वृष्टि प्र. २२

२. ” ” २३, २४

# अयनांशविमर्शः

रेखागणितीयेन सिद्धान्तेन कयोरपि द्वयोर्वृत्तयोः सम्पातः स्थानद्वये एव भवति[१]। अतएव गोल-गणितेऽपि सर्वेषां महद्वृत्तानां लघुवृत्तानाञ्च सम्पात-स्थानं द्वयं द्वयं विद्यते। यथा पूर्वापर-क्षितिजयोरेकः सम्पातः पूर्वस्वस्तिकोऽ-परश्च पश्चिमस्वस्तिकः, याम्योत्तरोन्मण्डलयोरेकः सम्पातः सौम्यध्रुवोऽ-परश्च याम्यध्रुवो वर्तते। तथैव नाडी-क्रान्तिवृत्तयोः सम्पातः प्राच्यां विषुव-सम्पाताख्योऽपरश्च शरत् सम्पाताख्यः प्रतीच्याम्। इमावेवायनसंज्ञकौ स्तः। अनयोः सञ्चलनं युगपदेव भवति। ग्रहापेक्षया सम्पातयोः विपरीता गतिर्भवति। अर्थात् पश्चिमाभिमुखं गमनमनयोः सम्पातयोः। उभयोः सम्पातयोः सादृश्ये-नैकस्यैव विषुवाख्यस्य ग्रहणं कुर्वन्सन् विषयोपस्थापनमत्र क्रियते।

अयमेव विषुवसम्पातः अयनसम्पातः अयनविन्दुर्वा निगद्यते। मेषादि विन्दुतो अश्विन्यादितो वा यदन्तरमंशादिकं सम्पातस्य तदेवायनांशाः अत्र प्रतिपाद्याः।

अयनमुद्दिश्य चिरादेव विवादः प्रचलति। अस्मिन् विषये भारतीयानां पश्चात्यानामाधुनिकानां च कुत्रचित् साम्यं कुत्रचिच्च वैषम्यमद्यापि वर्तते। अयन-चलनस्य ज्ञानं भारतीयैः वैदिककालादेव कृतम् परं तस्य सम्यग्ज्ञानं सप्तविंशत्युत्तर चतुःशततमे वत्सरे शकाब्दे सञ्ज्ञातम्। ऋग्वेदे सम्पातस्थाने कृत्तिकानक्षत्रस्योल्लेखो विद्यते।[२] वेदाङ्गज्यौतिषे श्रीमता लगधेन धनिष्ठा नक्षत्र-स्योल्लेखः कृतः। अनन्तरं सप्तविंशत्युत्तरचतुःशततमे शकाब्दे वराह-मिहिरादिभिः सम्पातस्थाने उत्तराषाढाया अवलोकनं कृतम्। एवं सम्पातस्थाने नक्षत्रपरिवर्तनमवलोक्य तदानीन्तनैर्दैवज्ञैश्चिन्तितं यत् नक्षत्रचक्रमेव भ्रमति। एतेषां विदुषां परम्परायामयमेव सिद्धान्तः प्रचलितः। परं श्रीमता भास्करा-चार्येण शिष्टपरम्परां निर्वहन् सन् ब्रह्मगुप्तादीनामौदासीन्यं परिमार्जयन् इदं प्रतिपादितम् "येऽयन चलनभागाः प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य भागाः"[३]

---

१. रेखागणित अ. ३

२. ऋग्वेद

३. सि. शि गो. ब. अ.

अर्थात् मेषादिविन्दुतः सम्पातं यावत् यदन्तरं समुद्भवति तत् क्रान्ति पातस्यायनसम्पातस्य चलनत्वात् समुद्भवति न तु मेषादि विन्दोः। मेषादि विन्दुरश्विन्यादिविन्दुर्वा सर्वथा स्थिर एव। अत्रेदमपि वक्तुं शक्यते यदाधुनिकानामपि सम्पातयोः चलनविषये स्वल्पान्तरेणायमेवाशयः। तेषां मते मेषादि विन्दुश्चलः यत्र यत्र सम्पातस्तत्र तत्रैव मेषादि विन्दुरपि। अस्मादेव ते सायनगणनामेवांगीकुर्वन्ति। अयनचलनमुद्दिश्यापरो विवादोऽयमस्ति यत् पातस्य दोलात्मकं भ्रमणं भवति उत वा चक्रभ्रमणम्? सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टोक्त्या प्रतिपादितं विद्यते यत् अयनसम्पातः सप्तविंशति अंशात्मकं यावत् प्राच्यां गत्वा पुनः मेषादि विन्दुमायाति ततः सप्तविंशत्यंशात्मकं यावत् प्रतीच्यां गत्वा पुनः मेषादिविन्दुमेति।[१] अपरः पक्षः मुञ्जालस्य वर्तते। एषां मतमस्ति यच्चक्रभ्रमणं भवति सम्पातस्य। प्रसङ्गेऽस्मिन् केचन आचार्याः सौरमतं केचन च मुञ्जालमतमनुसरन्ति। भास्कराचार्यः विषयेऽस्मिन् किञ्चिदपि स्पष्टरूपेण नोक्तवान्। तत्र कारणमिदमेव प्रतिभाति यत् दोलाभ्रमणस्वीकारेण तस्य यशसि म्लानत्वं सम्भवति चक्रभ्रमणस्वीकारे च वेदबाह्यत्वमुपलक्ष्यते। यतो हि चक्रभ्रमणसिद्धान्तस्वीकारे सति ऋतु[२] व्यवस्था विच्छिन्ना भविष्यति। मधुमाधवौ वसन्तः इत्यादिकं श्रुतिवचनमसङ्गतं भविष्यति। तदानीं चैत्रे वर्षा कदाचिच्चशरदृतुः समागमिष्यति। इत्येव मनसि सम्प्रधार्य मुनीश्वरेणोक्तं यत् मुञ्जालादयो वेदबाह्याः।[३] परमिदं विचार्यं वर्तते यत् वेदबाह्यत्वभिया चक्रभ्रमण सिद्धान्तो ग्राह्यस्त्याज्यो वा। विषयेऽस्मिन् पश्चात्यानामपि मतं चक्रभ्रमणस्यानुसरणं करोति। उभयोर्मतयोः समीक्षणं कृत्वा शंकरबालकृष्ण-दीक्षित-महोदयेनोक्तम्[४] यन् मेषान्तविन्दुतः कृत्तिकातो वा सम्पातस्य चलनं धनिष्ठा पर्यन्तमवलोक्य सिद्धान्तकारैः प्रतिपादितं यत् शून्यायनांशात् प्राक् पश्चाच् च सम्पातस्थानं दृष्टमतः सिद्ध्यति यत् क्रान्तिसदृशं पातस्यापि नियतस्थानात् परावर्तनं भविष्यति। यथा चतुर्विंशत्यंशात्मकं क्रान्तिरुत्तरा भवति। अनन्तरं

१. सूर्यसिद्धान्त ३, ९-१०
२. तै. सं. ४/४/११
३. सि. सि. मरीचि टीका
४. भारतीयज्योतिष पृ. ४४१

शून्यविन्दुमागत्य पुन:चतुर्विंशत्यंशांत्मकं यावत् याम्या भवति। एवमेवाय-नांशोऽपि सप्तविंशति अंशात्मकं यावत् गत्वा पुन: परावर्त्य शून्यविन्दुं आगमिष्यति। परमत्र २७ सप्तविंशत्यंशात्मकस्य काचिदुपपत्तिर्नास्ति अत: सिद्धान्तोऽयं काल्पनिक: इति वक्तुं शक्यते। अत: प्रथमदृष्ट्या आचार्य-मुञ्जालस्यैव मतं प्रामाणिकं सिद्धान्तसम्मतं च प्रतीयते। यथा चन्द्रविमण्डल-क्रान्तिमण्डलयो: सम्पात: राहुकेतु रूप: चक्रभ्रमणं करोति।

पातस्य गतिविषयेऽपि विभिन्ना: विचारा: समक्षमायान्ति। सूर्यसिद्धान्तानु-सारेण सम्पातस्य वार्षिकीगति: ५४ चतु:पञ्चाशत् कला वर्तते।[१] आचार्य मुञ्जालस्य मतेन एकोनषष्टिविकला:, द्वितीयार्यभटमतेन ४६.३ षट्चत्वारिं-शद्विकला: वार्षिकी गतिर्वर्तते। अनेके अन्ये आचार्या: अयन गतिं षष्टिविकलात्मिकामेव स्वीकृतवन्त:।

अस्मिन् प्रसङ्गे पश्चात्यानामप्येतिहास: विवेचनीय:। सर्वप्रथमं हिपार्क-समहोदयेनास्य सम्पातस्य चलनं अन्वेषितम्। परं तै:साधितं गतिमानं स्फुटं नासीत्। तदनन्तरं टालमीमहोदयेनास्य गतिरानीता। सा षट्त्रिंशद् विकला आसीत् तदनन्तरं टाइकोब्राहे महोदयेन ५१ विकलागतिरन्वेषिता। सर्वेषां मतानालोच्य वेसले महोदयेन एकोनविंशतिशततमे ईशाब्दे सपादपञ्च-षष्ट्युत्तरशतत्रय दिवसात्मकं वर्षमानं परिकल्प्य ५० पञ्चाशद्विकला गति: स्वीकृता। परमधुनातनीयोपलब्धीनामनुशीलनेनेदं प्रतिभाति यत् सम्पातस्य वास्तविकीगति: ५८ अष्टपञ्चाशद् वार्षिकी वर्तते। वेङ्कटेशबाबूकेतकर महोदयेनाऽपि इयमेव गति: स्वीकृता। इयं वास्तविकी गति: आचार्यमुञ्जालेन प्रतिपादितगत्या सह एक विकलात्मकमन्तरितं वर्तते।

यदि वयं अष्टपञ्चाशद् विकलात्मिकया गत्या अयनसंक्रमणस्य कालं गण्यामहे तदा द्विषष्टिमितेऽब्दे अंशात्मकं सम्पातस्य चलनं भवति। एवं १६७५ पञ्चसप्ततिषट्शदुत्तरसहस्रमितेब्दे २७ सप्तविंशत्यंशात्मकं सञ्चलनं भवति तथा त्र्यधिकसप्तत्युत्तरषट् सहस्रमितेऽब्दे दोलात्मकं भ्रमणं सम्पातस्य प्रपूर्यते। इदानीमयनांशा: २३/४१/२९ सन्ति। एवमद्यप्रभृति अष्टादशाधि-कशतद्वयवर्षानन्तरं अयनांशा: २७ सप्तविंशत्यंशं प्रपूर्य पुन: पुन: क्षीणत्वं गमिष्यन्ति। अर्थाद् अयनसम्पातस्य परावर्तनं दोलात्मकं भ्रमणं च सिद्धं

१. भारतीय ज्योतिष पृ. ४४२

भविष्यति। यदि च चक्रभ्रमणं भविष्यति तदा २७ सप्तविंशति अंशानान्तरमपि आयनांशा वृद्धिं गमिष्यन्ति। अस्यां स्थितौ २२३२० विंशत्युत्तरशतत्रयाधिक द्वाविंशतिसहस्रपरिमिते वत्सरे अयनसम्पातः स्वीयं चक्रभ्रमणं प्रपूरयिष्यति।

अन्ते च निष्कर्ष रूपेण इदमेव वक्तुं प्रभवामि यद् उपपत्तेरभावात् दोलात्मकं भ्रमणमसमीचीनमिति प्रतिभाति अतः सम्पातस्यापि चक्रभ्रमणमेव भविष्यति। यतोहि अस्य नियामकः कदम्बतारा नास्ति। कदम्बेनाकृष्टः क्रान्तिवृत्तः २४ चतुर्विंशात्मकमंशं यावत् सौम्ये याम्ये च गच्छति। परन्तु अत्र अयनगतौ भूमेः सार्धत्रयोविंशत्यंशात्मकं[१] नमनमेव वर्तते। एवं किञ्चिन्नमिता भूमिः सूर्यं परितो भ्रमति। अस्या चक्रभ्रमणकालः ३६५/१५/३१/३० पञ्चषष्ट्युत्तरशतत्रयदिवसाः पञ्चदशघटिकाः एकत्रिंशतकलाः त्रिंशद्विकलाश्च सन्ति। भूमेराकारो वतुलो नास्ति अपि तु वर्तुल इव वर्तते। अस्या उभयपार्श्वे ध्रुवीयप्रदेशा किञ्चिन्नम्राः सन्ति।[२] रवेर्भ्रमणं विषुवतीय प्रदेशेष्वेव न भवति अपितु क्रान्तिमानेनान्तरिता रवेः कक्षा भवति। अतः सूर्याकर्षणेन पाते गतिरायाति। अस्माद्धेतोः सम्पातस्य चक्रभ्रमणमेव युक्तियुक्तमिति। वस्तुतोऽस्यायनस्य विवादः सप्तविंशत्यंशानन्तरमेवोपरतं भविष्यति। आधुनिकाः प्राचीनाश्च सर्वे विवदमाना एव सन्ति। केवलं सौरमतमेव स्वकीयाभिमतं सुस्पष्टमुद्घोषितावान्। इदानी आधुनिकेष्वपि इयं धारणा समुद्भवति यत् कदाचित् सम्पातयोः दोलाभ्रमः अपि सम्भवितुमर्हति। अतोऽस्य निर्णयः कालाधीन एव।



---

१. भारतीय ज्योतिष पृ. ४४२

२. Spherical Astronomy p. 119

# ज्यौतिषे ज्ञानमीमांसा

ज्योतिषशास्त्रे सृष्टिविवेचनप्रसङ्गे प्रायशः सांख्यसिद्धान्तानां क्वचिद् वेदान्तप्रक्रियायाश्च व्यवहारो दृश्यते। सूर्यसिद्धान्ते सांख्यवेदान्तयोर्युगपदेवोपस्थापनं विद्यते। तत्रोक्तं भगवता सूर्येण सृष्ट्युत्पत्तिप्रसङ्गे—

**वासुदेवः परं ब्रह्म तन्मूर्तिः पुरुषः परः।**
**अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पञ्चविंशात् परोऽव्ययः।।**
**प्रकृत्यन्तर्गतो देवो बहिरन्तश्च सर्वगः**
**संकर्षणोऽपः सृष्ट्वादौ तासु वीर्यमवासृजत्।।**

इत्यादयः (सू. सि. भूगोलाध्यायः)

परं भास्काराचार्यः स्पष्टरूपेण सांख्यमतमनुसृत्य सृष्ट्युत्पत्तिक्रमं प्रतिपादितवान्। तद्यथा—

**यस्मात् क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भे-**
**ऽहंकारोऽभूत् खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च।**
**ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद्विरञ्चे-**
**र्विश्वं शश्वज्ज्नयति परमं ब्रह्म तत् तत्त्वमाद्यम्।।**

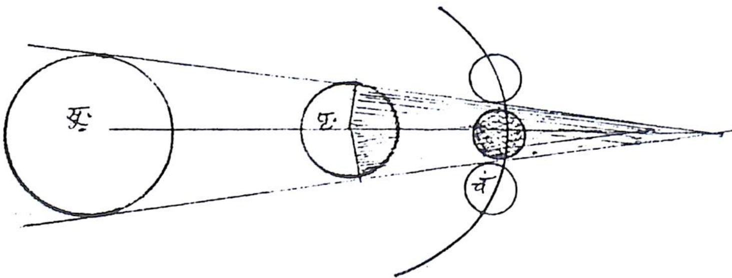
(सिद्धान्तशिरोमणिः गो. अ.)

अतः कश्चन एक एव सम्प्रदायोऽत्र नास्ति। अस्मात् कारणात् ज्यौतिषशास्त्रे 'ज्ञानस्य' निरूपणं कस्यचिदिकेस्य सम्प्रदायस्यानुकारी नास्ति। परं दार्शनिकैः प्रतिपादितं प्रमाख्यमप्रमाख्यञ्च द्विविधं ज्ञानं ज्यौतिषशास्त्रेऽपि स्वीकृतं विद्यते। 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ' इत्युक्त्या सह सर्वे सुपरिचिता एव परं चाक्षुषप्रत्यक्षमपि प्रमात्मकं न भवितुमर्हति। यतो हि शास्त्रेऽस्मिन् प्रत्यक्षरूपेण सुस्पष्टं दृश्यमानमपि पदार्थं भ्रमात्मकं भवितुमर्हति इति मान्यता वर्तते। निरभ्राकाशे स्वनग्नचक्षुषाऽवलोकनेन स्फुटं प्रतीयते यत्

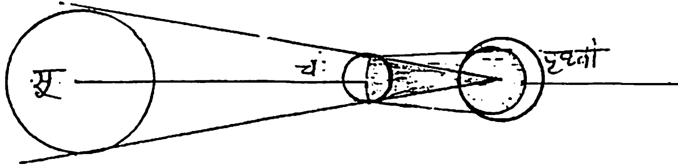
सर्वे ग्रहनक्षत्रतारका एकस्मिन्नेव तले स्थिताः सन्ति। परं वस्तुत एवं स्थितिर्नास्ति। ते परस्परमूर्ध्वोर्ध्वं स्थिता सन्ति। एकस्मात् पिण्डादपरपिण्डं यावल्लक्षशो मीलात्मकान्यन्तराणि भवन्ति। यथा चित्रद्वारा प्रदर्श्यते—




रेखात्मकं दृश्यं क्षितिजम्। विभिन्नस्थाने स्थिता ग्रहनक्षत्रतारका एकस्यामेव रेखायां (एकस्मिन्नेव तले) दृश्यन्ते। अतोऽत्र प्रत्यक्षविरुद्धं प्रमाख्यं ज्ञानं वर्तते। यद्यप्येकस्मिन्नेव तले तारकाणां दर्शनं भ्रमात्मकं परं अयं भ्रमोऽपि विज्ञानसम्मतं सिद्धान्तसम्मतं वा भवति। ऊर्ध्वोर्ध्वस्थितेषु पिण्डेषु मध्यवर्ति-अन्तरं भूस्थो द्रष्टा दूरस्थो वा द्रष्टा कथमपि द्रष्टुं न शक्नोति न केवलं ऊर्ध्वस्थितेषु पिण्डेषु एतादृशी स्थितिर्भवति अपितु भुवस्तलोपरि स्थिताः दूरस्थाः वृक्षततयः परस्परं दूरस्थिताः सत्यपि एकस्यामेव रेखायां दृश्यन्ते। अत्र कारणं यत् दूरत्वात् पिण्डगतं वृक्षादिषु च स्थितं पारस्परिकमन्तरमदृश्यो भवति। यदि कश्चन द्रष्टा दूरस्थानं एकसूत्रगतान् पिण्डान् वृक्षादींश्चावलोकयति तदा स सर्वेषां दर्शनं न करोति केवलं सम्मुखस्थं पिण्डं वृक्षं वावलोकयति अन्ये सर्वे सम्मुखस्थस्य पदार्थस्य पृष्ठे तिरोहिता भवन्ति। अयमेव सिद्धान्तः ग्रहणादीनामुत्पादको भवति। यथोक्तं गणेशदैवज्ञेन 'छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभा' अर्थात् अर्कं सूर्यं इन्दुश्छादयति सूर्यग्रहणे एवमेव विधुं चन्द्रमसं भूमिभा भूमेश्छाया आच्छादयति। कथमिति चित्रद्वारा प्रदर्श्यते—



अत्र सूर्येणोत्पादिता भूमेश्छाया सूर्यादपरपार्श्वे पतति। चन्द्रः भूमिं परितो भ्रमन् यदा भूमेश्छायायां प्रविशति तथा अदृश्यो भवति स्वयं प्रकाशकत्वाभावात्। इदमेव चन्द्रग्रहणम्। एवमेव सूर्यग्रहणम्—




सूर्यग्रहणे कदाचित् सूर्यविम्बं पूर्णरूपेण कदाचिच्चांशिकरूपेण ग्रहणग्रस्तो कृष्णवर्णात्मको वा भवति। परमत्रापि प्रत्यक्षविरुद्धमेव। सूर्यः आग्नेयपिण्डः तेजोमयः भूमिश्चन्द्रो वा स्वयं प्रकाशहीनः। प्रकाशपुञ्जः कथं छायया आच्छादितो भवितुमर्हति। वस्तुतः सूर्यग्रहणे सूर्यविम्बं नाच्छादितो भवति न च सूर्यप्रकाशे म्लानता एव समायति। अपि तु द्रष्टासूर्ययोर्मध्ये चन्द्रः अवरोधकत्वेन तिष्ठति। यथोक्तं सांख्यकारिकायाम् —

**'अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातात् मनोनवस्थात् व्यवधानादभिभवाच्च**

अत्रापि सूर्यग्रहणे व्यवधान एव कारणम् । द्रष्टासूर्ययोर्मध्ये चन्द्रः व्यवधानरूपेण स्थितो भवति अतश्चन्द्रस्य पृष्ठवर्ती कृष्णवर्णात्मको भागः सूर्यबिम्बस्य स्थाने ऽस्माभिर्दृश्यते। अर्थात् सूर्यग्रहणेऽपि चन्द्रस्यैव कृष्णो भागः न तु सूर्यस्य। इदमपि प्रत्यक्षविरुद्धं दृश्यं अस्माभिः प्रत्यब्दमवलोक्यते। एवं बहून्युदाहरणानि सन्ति यत्रावास्तविकं स्वरूपं किञ्चिदन्यं दृश्यं भवति वास्तविकं च तस्माद्भिन्नं भवति। चन्द्रस्याह्लादकत्वं रमणीयता च सुप्रसिद्धा एव। कवीनां कल्पनाकेन्द्रं सुन्दरीणां वदनस्योपमानं चन्द्र एव परं भौतिक-शास्त्रज्ञाश्चन्द्रमुखी तामेव स्वीकुर्वन्ति यस्या मुखे शीतलाप्रकोपात् गर्तततयो भवन्ति। यतो हि चन्द्रस्य तलं गर्तैः समाकीर्णं विद्यते। अतोऽयमेवाशयो यत् प्रत्यक्षमपि भ्रमात्मकं भवति।

ज्यौतिषशास्त्रं सांख्यमतं प्रायः स्वीकरोति। यथोक्तं सांख्यशास्त्रे 'प्रमेय-सिद्धिः प्रमाणात्', गणितेऽपि प्रमाणादेव प्रमेयसिद्धिर्भवति। अत्र गणितेऽपि, व्यक्ताव्यक्तज्ञातानां त्रिविधानां प्रमाणानां प्रयोगो भवति। व्यक्तमव्यक्तञ्च द्विविधं गणितं वर्तते। गणिते केचन सिद्धान्ताः स्वयं सिद्धाः भवन्ति तेषां कृते

प्रमाणस्यावश्यकता न भवति। यथा एकेन पदार्थेन यावन्तः पदार्थाः समानास्ते सर्वेऽपि परस्परं समाना एव भवति।

यथा अ —— ब

1. क —— ख

2. ग —— घ

3. च —— छ

यदि अ ब = क ख, अब = ग घ, अब = च छ

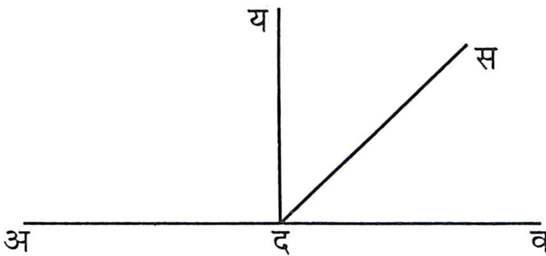
तदा अब = कख = गघ = चछ

अपरञ्च अतुल्यपदार्थेभ्यस्तुल्यविशोधनेनातुल्यता तथैव तिष्ठति। यथा—

| **अतुल्यसंख्या** | **तुल्यसंख्या** | **शेषः** | **अन्तरम्** |
|---|---|---|---|
| २५ — | १० = | १५ | ? |
| ३० — | १० = | २० | ५ |
| ३५ — | १० = | २५ | ५ |

अतुल्यसख्यासु परस्परं ५-५ अंकानामन्तरमासीत् तुल्यविशोधनेनापि तथैव ५-५ अंकानामेवान्तरमवशिष्टम्। अत्र प्रमाणस्यावश्यकता न भवति।

यदि द्वयोःरेखयोर्योगः एकस्मिन्नेव बिन्दौ भवति तदा तयोरुत्पन्नयोः कोणयोर्योगः समकोणद्वयात्मको भवति। अयं प्रमेयः। अत्र प्रमाणद्वारा एवं सिद्धिः। यथा—




अ व, स द रेखयोर्योगः द विन्दौ अतः ? अ द स + स द व = २ समकोणः = १८०°

कथमिति कर्त्तव्यता— द विन्दुत: एको लम्बो विधेय:। अयं व्यक्त:। लम्बस्योभयपार्श्वगतयो: कोणयोर्योग: = २ समकोण:।

अतस्तत्र स्थितानां लम्बस्योभय पार्श्वगतानां समस्त कोणखण्डानां योगोऽपि समकोणद्वयात्मक एव इति सिद्धम्।

एवमेव अङ्कगणिते बीजगणिते च व्यक्ताऽव्यक्तयो: साहचर्येण इष्टस्य ज्ञानं भवति। यथा अतीव प्रसिद्ध: प्रश्न:—

**अलिकुलदलमूलं मालतीं यातमष्टौ-**
**निखिलनवमभागाश्चालिनी भृङ्गमेकम्।**
**निशि परिमललुब्धं पद्ममध्ये निरुद्धं**
**प्रतिरणति रणन्तं ब्रूहि कान्तेऽलिसंख्याम्।।**

१. $\frac{\sqrt{\text{अलिकुलम्}}}{२}$

२. $\frac{\text{अलिकुलम्} \times ८}{९}$

३. एका भ्रमरी = पद्ममध्ये (व्यक्ता अदृश्या)

४. एक: भ्रमर: = पद्मोपरि (व्यक्त: दृश्य:)

गणितीय परिभाषायाम्

१. मूलगुणक: $\frac{१}{२}$

२. भाग: $\frac{८}{९}$

३. अदृश्य: १

४. दृश्य: १

समाधानसूत्रानुसारमत्र इष्टराशेरर्धस्यैव ज्ञानं भविष्यति यतो हि राशेरर्धमूलमेवात्र मूलगुणक:। अत:—

$$१ - \frac{८}{९} = \frac{९-८}{९} = \frac{१}{९}$$

$$१ \div \frac{१}{९} = \frac{९\times१}{१} = ९$$ दृश्य नूतन:

$$\frac{१}{२} \div \frac{१}{९} = \frac{१}{२} \times \frac{९}{१} = \frac{९}{२}$$ मूलगुणक:

$$\frac{९}{२} \times \frac{१}{२} = \frac{९}{४}$$ गुणार्धम्

$$९ + \left(\frac{९}{४}\right)^२ = ९ + \frac{८१}{१६} = \frac{१४४+८१}{१६} = \frac{२२५}{१६}$$

$$\sqrt{\frac{२२५}{१६}} = \frac{१५}{४} \mid \frac{१५}{४} + \frac{९}{४} \quad \frac{२४}{४} = ६$$

$(६)^२ \times २ = ३६ \times २ = ७२$ भ्रमरसंख्या।

अत्र क्रियया इष्टसिद्धि:। एवं व्यक्ताव्यक्तयो: सर्वत्र प्रमेयसिद्धि: प्रमाणादेव।

अत्रायमेवाशयो यत् ज्यौतिषशास्त्रेऽपि पदे-पदे प्रमाणानामावश्यकता भवति। प्रमाणात् सिद्धमेव ज्ञानं प्रमाख्यं भवति केवलं प्रत्यक्षागतं न। होरास्कन्धे यद्यपि सिद्धान्तरीत्या उपपत्तिजनकं प्रमाणं नोपलम्यते परं तत्रार्षप्रमाणमेव दैवज्ञैरङ्गीकृतम्। परं तत्राप्याचार्यैरुक्तं यत् 'अत्रोपलब्धिरेव वासना'। अर्थात् होराशास्त्रे यत् किमपि प्रतिपादितं तस्य परिणामस्य प्रत्यक्षीकरणमेवोपपत्ति:। अस्मादेवास्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षत्वमपि सिद्ध्यति।



# प्राचीनसंस्कृतादर्शग्रन्थेषु प्रयुक्तालिपयः

कस्यापि देशस्य सम्प्रदायस्य वा संस्कृतेर्जीवनं संरक्षणञ्च तस्य सहित्यसंरक्षणेनैव सम्भवति। साहित्यस्य संरक्षणं लिप्या माध्यमेनैव सम्भवति। स्वकीयं पुरातनमैतिह्यमपि लिप्या माध्यमेन ज्ञातुं शक्यते। आसीत् पुरा श्रुतेः परम्परा अस्माकं भारते वर्षे यथा परम्परया श्रुतयः अद्यावधि सुरक्षिताःसन्ति, परमन्यत्र कुत्रापि सुपुष्टा सुसमीचीना च परम्परा आसीदिति आस्माभिर्न श्रुतम्। नूनं हि ते भारतीया वैदिका विद्वान्सः समादरणीयाः येषां श्रमेणाविच्छिन्ना निर्दुष्टा वेदपारायणपरम्परा अद्यापि जीयमाना प्रचलति। परन्तु वेदातिरिक्ताः वेदाङ्गादयो विभागाः लिपिमाध्यमेनैवास्माकं समक्षमायान्ति। इदानीं वयं सर्वे लिपिमाध्यमेनैव स्वकीयान् विचारान् स्थानान्तरं जनान्तरञ्च सम्प्रेषयितु क्षमा भवेम। भाषा माध्यमेनास्माकं समक्षं समुपस्थिता जना एवास्माकमाशयेनावगता भवितुमर्हन्ति नान्येऽतः भाषा ज्ञानेन सह लिपेर्ज्ञानमत्यावश्यकं भवति।

लिपेराविष्कारः सर्वप्रथमं कुत्र कदा चाभवत् इति वक्तुं न पारयामि, यतो हि भृशं विवादास्पदमिदं वर्तते। पुरातत्वविदां इतिहासविदाञ्च पारस्परिकं मतैक्यमस्मिन् विषये नास्ति। परमिदं निर्विवादं यत् अद्यावधि लब्धेषु शिलालेखेषु प्राप्तानां लिपीनामवलोकनेन सुस्पष्टं जातं यत् भारते सर्वप्राचीना ब्राह्मी लिपिरासीत्। केषाञ्चन भारतीयविदुषां मतमस्ति यद् ब्राह्मी लिपिः भारतीयानामाविष्काररूपा वर्तते। सर्वप्रथममियं लिपिरत्र व्यवहृता अत इयं ब्रह्मणा निर्मिता लिपिरिति कथ्यते। परं पाश्चात्या विद्वान्सः इदं न स्वीकुर्वन्ति। तेषु केषाञ्चन् मतमस्ति यत् ब्राह्मी लिपिः सर्वप्रचीना नास्ति। पाश्चात्यदेशीयः विश्रुतसंस्कृतज्ञः मैक्समूलरः कथयति यत् पाणिनीयपरिभाषायां लिपेः संकेतो नास्ति। अतस्तेषामनन्तरमेव लिपेः प्रसारो भारतेऽभवत्। बर्नेलमहोदयनां मतमस्ति यत् फिनिशिअन् जना एव लिपेराद्या आविष्कारकाः आसन्। तेषां साहचर्येण भारतीया ब्राह्मीलिपिः समुत्पन्ना। एवमेव बूलर महोदयानां मतमस्ति

यत् 'सेमेटिक' अक्षरैर्ब्राह्मीलिपिः समुत्पन्ना वर्तते। परन्तु सेमेटिक अक्षराणां फिनिशिअन् अक्षराणाञ्चावलोकनेन एतत् सर्वं पश्चात्यानां कथनमसङ्गतं प्रतिभाति। 'फिनिशिअन' अक्षराणां स्वल्पमपि साम्यं ब्राह्मीअक्षरैः सह नास्ति। उदाहरणार्थं 'कानिचिदक्षराणि प्रदर्श्यन्ते'—

फिनिशअन खरोष्ठी ब्राह्मी

अनेनेदं स्फुटं प्रतिभाति यद् ब्राह्मी स्वतन्त्रा लिपिर्वर्तते। अस्य जनको जननी वा न काप्यन्या लिपिरिति।

निष्पक्षरूपेण एडवर्डथामस महोदयेनोक्तम् यत् ब्राह्मी लिपिर्भारतीयानां लिपिर्वर्तते। अस्या सारल्येन भारतीयानां बुद्धिकौशलं लक्ष्यते। एवमेव प्रोफेसरडासनमहोदयानामपि मतमस्ति यत् ब्राह्मीलिपेर्वैशिष्ट्यं तस्या पृथगस्तित्त्वं प्रकटयति। अतः साधिकारं वक्तुं प्रभवामि यत् सर्वाणि साक्ष्याणि अस्य स्वतन्त्रं स्वरूपमेवानुसरन्ति G. Buhler जी बुलरमहोदयेन स्वकीये Indian Paleo graphy[1] ग्रन्थे एकं मनोरञ्जकं तथ्यमुद्घाटितम् येनास्या परोक्षरूपेण पुरातनत्वं सिद्ध्यति। तेन बेरुनीमहोदयानां मतमुपस्थापयन् लिखितं यत् भारतीया हस्तलेखकलां विस्मृतवन्तः।

अनन्तरं दैवीप्रेरणया पराशरसूनुना व्यासेन पुनरियं हस्तलेखकला अन्वेषिता। अतः सुस्पष्टमिदं यद् भारते लेखनकला ततः प्रारब्धा, तदानीं कलियुगस्यारम्भकाल आसीत्। अतः अस्या कालः ३९०९ B.C. (नवोत्तर-नवशताधिकसहस्त्रत्रयवर्षाणि ईसापूर्वः) सिद्ध्यति। भवतु नाम अस्माकं दृष्ट्या

अयमेव पक्षः समीचीनतरो यत् ब्राह्मी स्वतन्त्रा भारतीया प्राचीनतमा लिपिर्वर्तेत।

स्वकीयं प्राचीनतममितिहासमपि प्राचीनतमायां लिप्यां सुरक्षितं वर्तते। कालक्रमानुसारं समुपस्थितानां व्यवधानानां प्रभावेण लिपिज्ञानपरम्परा विच्छिन्ना जाता यथा च लिपिसु कालभेदात् स्थानभेदाच्चान्तरं जातं येन लिपीनां पठने महत्काठिन्यं भवति। पूर्णज्ञानाभावात् बहूनि तथ्यानि अनुद्घाटितान्येव तिष्ठन्ति। अशोकस्तम्भस्योपरि उट्टङ्कितानि अक्षाराणि अद्यावधि समीचीनतया न पठितानि सन्ति।

संस्कृतभाषायां संग्रहीतानि शास्त्राणि न केवलं भारतीयानामपि तु वैदेशिकानां कृतेऽपि आकर्षणकेन्द्रान्यासन्। अतस्तैरपि ब्राह्मी लिप्यां सुरक्षितमुपनिबद्धञ्च शास्त्रमवलोकयितुं भृशं यत्नशीला आसन्। चतुरशीत्युत्तरसप्तदशशतमिते १७८४ ईसवीयवत्सरे सरविलियमजोन्समहोदयेनैका "एसियाटिकसोसाइटी" इत्याख्या संस्था संस्थापिता। तस्या माध्यमेन भारतीयेतिहास-शिल्प-कला-साहित्यादीनां सूक्ष्ममन्वेषणं प्रारब्धम्। प्रसङ्गेऽस्मिन् आधारभूतानां शिलालेखानां, मुद्राणां, दानपत्रादीनाञ्चान्वेषणं तेषां वाचनादिभिःसम्बन्धितं कार्यं विद्वद्भिरङ्गीकृतम्।

अस्माकं देशे प्राप्ताः प्रायशः सर्वे शिलालेखाः मौर्यवंशकालीनाः सन्ति तेष्वपि विशेषतया सम्राट् अशोकस्य शासनकालीनाः सन्ति। द्वौ शिलालेखौ अशोककालात् पुरातनौ स्तः। तयोरेकः राजस्थानप्रदेशस्याजमेरमंडलान्तर्गतबडलीग्रामात् समुपलब्धः द्वितीयश्च नेपालस्योपत्यकायां 'विप्रावा' नामकस्थानात् समुपलब्धः। अस्य कालः पुरातत्वविद्भिः ४४३ त्रिचत्वारिंशदधिकचतुःशतं ईसापूर्वं निर्धारितम्। उभयोर्लिपिः ब्राह्मी आसीत्। अशोकस्य काले प्रचलितलिप्या सह विप्रावा शिलालेखस्थायां लिप्यां किञ्चिदन्तरमासीद् येनानुमीयते यदस्या कालः ईसातः प्राक् ५०० वर्षाण्यावद् भवितुमर्हति।

ब्राह्मीं लिपिमधिकृत्य जैनग्रन्थेषु बौद्धग्रन्थेषु च विस्तरं वर्णनमुपलभ्यते। पन्नवणासूत्रे समवायांगसूत्रे च अष्टादशलिपीनामुल्लेखो वर्तते।

एवमेव ललितविस्तराख्ये बौद्धग्रन्थेऽपि चतु:षष्टिसंख्याकानां लिपीनामुल्लेखो वर्तते। भगवतीसूत्रे ब्राह्मीं लिपिं नमस्कृत्य सूत्रारम्भो कृतो वर्तते। नमो बंभीये लिवियेे। सर्वत्र लिपिगणनायां प्रथमं नाम ब्राह्मीलिपेः द्वितीयञ्च खरोष्ठी लिपेर्वर्तते। अष्टषष्ट्युत्तरषष्ट्शततमे ईसवीयवत्सरे चीनदेशे ''फा यु अन् चु लिन्'' बौद्धविश्वकोशस्य रचना जाता। तत्र ललितविस्तरोक्ता चतु:षष्ठिसंख्याका लिपिसूची निर्दिष्टा वर्तते। अद्यापि इयमेव धारणा वरीवर्ति यद् भारते प्रचलितानां सर्वासां लिपीनां जननी इयमेव ब्राह्मी लिपिरेव वर्तते। अस्यां अङ्कानामपि संकेतो वर्तते अङ्कानामाविष्कारस्तु केवलं भारतीयानामेव वर्तते इति प्रायशः सर्वे जानन्त्येव। ब्राह्मी लिप्यां अंका एकत आरभ्य ९ पर्यन्तं वर्तन्ते। अनन्तरं दशस्थानीयानामंकानां १० दशत आरभ्य ९० नवति पर्यन्तमुल्लेखः वर्तते। तत्र शतस्थानीयानां सहस्रस्थानीयानामङ्कानां कृते संख्या नास्ति तेषां व्यवहारस्तत्र संकेतेनासीत्। एवं सम्पूर्णाङ्कत्वेनास्य व्यवहारः समस्ते भारते वर्षे आसीत्। प्रथमम् औदीच्या ब्राह्मी द्वितीयञ्च दाक्षिणात्या ब्राह्मी। औदीच्यां ब्राह्मीलिप्यां प्रमुखरूपेण गुप्ता-कुटिला, नागरी, शारदा, बंगलाप्रभृतयः आसन्। उदाहरण रूपेणात्र कुटिला लिप्यां प्राप्तस्य शिलालेखस्य छायाप्रतिं प्रस्तूयते। सहैवास्य देवनागरी रूपान्तरमपि प्रदर्श्यते

**कुटिल-लिप्यां शिला-लेख**

विक्रम संवत्
५८९
ख्रीष्टाब्द
५३२

मन्दसोर, विक्रमसंवत् ५८९, ई. स. ५३२

शिलालेखस्य देवनागरीरूपान्तरम्-

अथ जयति जनेन्द्रः श्रीयशोधर्मनामा प्रमदवन- (शत्रु) मिवान्तः (१)

शत्रु सैन्यं विगाह्य व्रणकिसलयभङ्गैर्योङ्गभूषां विधत्ते तरुणत-(२)

रुलतावद्वीरकीर्तिर्व्विनाम्य आजौ जितौ विजयते जगतीम्पुनश्च (३)

श्रीविष्णुवर्द्धननराधिपतिः स एव प्रख्यात औलिकरलाञ्छन आत्म (४)

वङ्शो येनोदितोदितपदं गमितो गरीयः प्राचो नृपान् सुवृहतश्च (५)

बहूनुदीचः साम्तायुधा च वशगान्प्रविधाय येन नामापरं (६)

जगति कान्तमदो दुरापं राजाधिराजपरमेश्वर इत्युदूढम् (७)

स्निग्धश्यामाम्बुदाभैः स्थगित दिनकृतो यज्व नामाज्यधूमैरम्भो मेध्यं (८)

विस्तरभयाद् अत्र केवलं 'अ' स्वरस्य स्वरूपमुपस्थाप्यते—

| देवनागरी | ब्राह्मी | मलयालम | ग्रन्थ | तमिल | तेलुगू |
|---|---|---|---|---|---|
| अ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |

केषाञ्चन विदुषामतमस्ति यत् देवनागरीलिपिः कुटिलाब्राह्मीतः समुत्पन्ना। परमद्य यादृशं स्वरूपं देवनागरी लिपेः वर्तते न तस्य साम्यं कुटिलालिप्या सह दृश्यते।

एवमेव दाक्षिणात्य-ब्राह्म्यामपि अद्य प्रचलिता सर्वाः लिपयः परस्परं भिन्नाः। तत्र पारस्परिकमपि साम्यं नास्ति।

दाक्षिणात्यब्राह्म्यां कन्नड़-तेलुगु-ग्रन्थमलयालमलिपिषु समुपलब्धाः ग्रन्था तालपत्रेषु लिखिता भवन्ति। तेषां चित्रमत्र प्रस्तूयते।



तत्र प्रायश: सर्वासु लिपिसु कानिचिदक्षराणि तुल्यरूपाणि भवन्ति। तत्र पार्थक्यं दुष्करं भवति। तत्र मेधा अभ्यासश्च साहाय्यं करोति। अत्र ग्रन्थ लिप्यां एतादृश्या ये अंशा: सन्ति तेषां प्रदर्शनं मया क्रियते।

(उ) 2, (व) 21, (च) 21, (छ) 2Δ, (फ) 2Δ

अनया रीत्या अक्षरसाम्यवशात् भ्रान्तिर्भवति। परिणामत: ग्रन्थसम्पादने अवाञ्छितान्यपि पाठान्तराणि समुद्भवन्ति। एतेषां निवारणं तदा सरलतया भवति यदा अन्यलिप्यामपि हस्तलेखा: समुपलब्धा भवन्ति। स्थितावस्यां प्रत्यक्षराणां स्वर-व्यञ्जनानाञ्च पाठसंवाद: सावधानतया कर्त्तव्य:।

प्राचीनानां हस्तलेखानां लिपिज्ञानं सरलतया भवितुमर्हति। यतो हि तत्र केवलं अक्षरसंकेत: विभिन्नासु लिपिसु भवति। भाषा तु संस्कृतं प्राकृतं वा भवति।

यद्यप्येदानीं लिपिसु सुरक्षिता सामग्री प्रकाशं नीयते मुद्रणालयै: शनै: शनैस्तथापि विभिन्नासु लिपिसु अभ्यास: ग्रन्थसम्पादने शोधकर्मणि च फलदायको भवति।



# मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन

कुमारसम्भवे महाकविना कालिदासेन पार्वती-परमेश्वरयोर्विवाहावसरे 'मैत्र'-मुहूर्त्तस्योल्लेखः कृतः। स च मैत्राख्यो मुहूर्त्तो ज्यौतिषशास्त्रे सम्प्रत्युपलब्धेषु मुहूर्त्तग्रन्थेषु मया न कुत्राप्यवलोकितः। परं महाकविना समुद्धृतोऽयं मुहूर्तः। अतोऽयं गवेषणीयो विषयः।

मुहूर्त्तशब्दो ज्योतिषशास्त्रे द्विधा व्यवहृतो विद्यते। एकः कालखण्ड-वाचकोऽपरो भद्रादिदोषरहितः कार्यविशेषानुरूपो विहितनक्षत्रादियुतः कालः कालखण्डववाचको मुहूर्तो घटिकाद्वयात्मको भवति। अत्रापि द्विधा व्यवहारो दृश्यते। एकत्र मुहूर्त्तो 'घटिकाद्वयम्' इति सिद्धान्तेन विंशत्युत्तरशतक-कलात्मको घटिकाद्वयात्मको वा कालो मुहूर्त्त पदवाच्यो भवति। अपरत्र च दिनमानस्य रात्रिमानस्य वा पञ्चदशांशो भागो मुहूर्त्त इति। अयमस्थिरः कालः। अत्र न्यूनाधिकता भवति। यदा दिनमानस्य वृद्धिर्भवति तदा मुहूर्त्तपरिमाणेऽपि वृद्धिर्यदा च त्रिंशद् घटिकातो न्यूनं दिनमानम् तदा मुहूर्तपरिमाणेऽपि ह्रासः। अत्रापि यदा दिनमानम् त्रिंशद्घटिकात्मकं भवति तदैव घटिकाद्वयात्मको मुहूर्त्तो भवति नान्यथा। एकस्मिन् दिवसे पञ्चदश मुहूर्त्ता भवन्ति। प्रत्येकेषु मुहूर्त्तेषु एकैकं नक्षत्रं तन्नियामकत्वेन भवति। यथोक्तं मुहूर्त्तचिन्तमणौ विवाहप्रकरणे[१]—

गिरिशभुजगमित्राः पित्र्यवस्वम्बुविश्वे
ऽभिजिदथ च विधातापीन्द्र इन्द्रानलौ च।
निर्ऋतिरुदङ्नाथोऽर्य्यमाथो भगः स्युः।
क्रमश इह मुहूर्त्ता वासरे बाणचन्द्राः।।

१. मु० चि० वि० प्र० ५२।

अर्थात् दिवसे नक्षत्राधीना एते पञ्चदश मुहूर्त्ता भवन्ति। एषु मुहूर्त्तेषु निर्दिष्टनक्षत्राणां मान्यता भवति।

| मुहूर्त्ताः | नक्षत्राणि | मुहूर्त्ता | नक्षत्राणि |
|---|---|---|---|
| १ | आर्द्रा | ९ | रोहिणी |
| २ | आश्लेषा | १० | ज्येष्ठा |
| ३ | अनुराधा | ११ | विशाखा |
| ४ | मघा | १२ | मूल |
| ५ | धनिष्ठा | १३ | शतभिषा |
| ६ | पूर्वाषाढ़ा | १४ | उत्तराफल्गुनि |
| ७ | उत्तराषाढा | १५ | पूर्वाफल्गुनि |
| ८ | अभिजित् | | |

एवमेव रात्रावपि पञ्चदशमुहूर्त्ता[१] भवन्ति। तेषां नक्षत्रेणैव बोधो भवति। तद्यथा—

| मुहूर्त्ताः | नक्षत्राणि | मुहूर्त्ता | नक्षत्राणि |
|---|---|---|---|
| १ | आर्द्रा | ९ | मृगशिरा |
| २ | पूर्वाभाद्रपदा | १० | पुनर्वसु |
| ३ | उत्तराभाद्रपदा | ११ | पुष्य |
| ४ | रेवती | १२ | श्रवण |
| ५ | अश्विनी | १३ | हस्त |
| ६ | भरणी | १४ | चित्रा |
| ७ | कृत्तिका | १५ | स्वाति |
| ८ | रोहिणी | | |

१. शिवोऽजपादादष्टौ स्युर्भेशा अदितिजीवकौ।
विष्ण्वर्कत्वष्ट्रमरुतो मुहूर्त्ता निशि कीर्तिता।।
१. मु. चि. वि. प्र. ५३।

आवश्यके सति कस्मिन्नपि दिवसे विवाहार्थमेतेषामुपयोगः क्रियते। यदि मघानक्षत्रमभीष्टं चेत् तर्हि दिवसस्य चतुर्थे मुहूर्ते विवाहादिकं कार्य सम्पादयितुं शक्यते। एवं रात्रावपि। एतेषां प्रयोग आपत्काले एव भवति।

अपरेषु भद्रादिदोषरहितेषु मुहूर्तेषु प्रत्यहं तदेव नक्षत्रं भवति यस्मिन् नक्षत्रे चन्द्रस्तिष्ठति। अर्थात् तत्र दैनिकचान्द्रनक्षत्राणामेव व्यवहारो भवति। ईदृग्विविधा मुहूर्त्ताः सामान्याः सततं व्यवहारयोग्याश्च। प्रायशः लोकव्यवहारे काव्येषु पुराणेषु चैतेषां सामान्यमुहूर्त्तानामेवोल्लेखो दरीदृश्यते। क्वचिद् युद्धयात्रायाम्, क्वचित् सामान्ययात्रायाम् क्वचिद् विवाहप्रसङ्गे, क्वचिच्चाध्ययनकर्मसु मुहूर्त्तानां चर्चा वरीवर्ति। परं प्रायशस्तेषु मुहुर्त्तेषु न तथाविधा विचिकित्सा समुद्भवति यादृशी शिवपार्वत्योर्विवाहमुहूर्त्ते वर्तते। वामनपुराणे सप्तर्षयो नगाधिराजमुक्तवन्त[१]:—

ततः सप्तर्षयः प्रोचुः शैलराज निशामय।  
जामित्रगुणसंयुक्तां तिथिं पुण्यां सुमङ्गलाम्।।  
उत्तराफल्गुनीयोगं तृतीयेऽह्नि हिमांशुमान्।  
गमिष्यति च तत्रोक्तो मुहूर्त्तो मैत्रसंज्ञकः।।

अत्र चन्द्रस्य उत्तराफल्गुनियोगेन मैत्रसंज्ञको मुहूर्त्तो निर्दिष्टः। अयमेवाशयो महाकविना कालिदासेनापि प्रदर्शितः कुमारसम्भवे[२]—

मैत्रे मुहूर्त्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफाल्गुनीषु।।

---

१. वामनपुराणम् २६, ६२-६३।

२. कुमारसम्भवम् ७-६।

अत्र विचारणीयोऽयं विषयो यत् को नाम मैत्रमुहूर्त्तः? 'मैत्रशब्देन ज्यौतिषशास्त्रे अनुराधा नक्षत्रस्य बोधो भवति दैवत्ववशात्। यात्राप्रसङ्गेऽपि मैत्रमुहूर्त्तस्य चर्चा दृश्यते। महाभारते एकस्मिन् प्रसङ्गे श्रीकृष्णेनादिष्टोऽर्जुनो गन्तुं सन्नद्धः। तत्र मैत्रमुहूर्त्तयोगेन यात्रामुहूर्त्तस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयन् श्रीकृष्णो जगाद—

ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते।
मैत्रे मुहूर्त्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे॥
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे॥
स्फीतसस्यमुखे काले कल्पः सत्त्ववतां वरः[1]॥

अत्रायमाशयो यत् हे अर्जुन ! रेवत्यां मैत्रमुहूर्त्ते सम्प्राप्ते सति त्वं गच्छ। अत्रापि मैत्रमुहूर्त्तेन सह रेवतीनक्षत्रस्य कः सम्बन्धः इति विचारणीयः। आचार्यनीलकण्ठेन स्वकीये भाष्ये मैत्रमुहूर्त्तस्य संगतिरेवं प्रतिपादिता। अर्जुनस्य जन्मनक्षत्रं पूर्वाफल्गुनिः यात्रानक्षत्रञ्च रेवती। पूर्वाफाल्गुनि-जन्मनक्षत्राद् रेवतीनक्षत्रस्य संख्या सप्तदश अर्थात् तदानीं अर्जुनस्य कृते मैत्रतारा[2] उपलभ्यते। अतो मैत्र तारायोगेन रेवत्यां मैत्रमुहूर्त्तस्य सम्प्राप्तिर्जायते। युक्तिसंगतोऽयं नीलकण्ठाचार्यस्याभिप्रायः। वामनपुराणेऽपि सप्तर्षिभि-र्निधारिते मैत्रे मुहूर्त्ते उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे मैत्रताराया योगेन मैत्रमुहूर्त्तो भवितुमर्हति। यदि मैत्रतारायोगेन उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे मैत्रमुहूर्त्तः कल्प्यते तदा पार्वत्या जन्मनक्षत्रं नूनं हि मृगशीर्ष-चित्रा-धनिष्ठानक्षत्रेष्वन्यतमं भवितुमर्हति। अस्याधारेण कुमारसम्भवे प्रतिपादितस्य मैत्रे मुहुर्त्ते शशलाञ्छनेनेत्यादेर-न्वर्थता सिध्यति। ताराज्ञानं ज्योतिषशास्त्रे प्रतिपादितं वर्तते विवाहप्रसङ्गे। कन्यर्क्षात् वरभं यावत् वरभात् कन्यर्क्ष यावत् या नक्षत्रसंख्या तत्संख्याका तारा भवति। यदि संख्या नवभिरधिका तदा नवभिर्विभज्य शेषाङ्केन तारा ज्ञेया[3]। अनयैव रीत्या यत्र ताराज्ञानमपेक्षते तत्र जन्मनक्षत्राद् वर्तमाननक्षत्रं

१. महाभारत उ. प. ८३, ६-७।

२. जन्माख्यसम्पद् विपदःक्षेमप्रत्यरिसाधकाः वधमैत्रातिमैत्राः स्युस्तारा नामसदृक्फला (मु. पि. ४.१२)

३. कन्यर्क्षाद्वरभं भावत् कन्याभं वरभादपि।
गणयेन्नवहृच्छेषे त्रीष्वद्रिभमसत्स्मृतम्॥ मु. चि. ६.२४

यावत् विगणय्य नवभिर्विभज्य च ताराज्ञानं क्रियते।

वामनपुराणोक्ते मुहूर्ते मैत्रमुहूर्त्तादतिरिक्तमन्यदपि वैशिष्ट्यं प्रतिपादितं वर्तते। तच्चैवम् जामित्रगुणसंयुक्तामिति जामित्रं नाम सप्तमम्। कन्यालग्नात् सप्तमः पत्युः भावः वरस्य लग्नात् सप्तमं पत्न्याः स्थानं भवति। अतः अस्य भावस्य शुद्धिर्विवाहलग्ने विशेषेणावलोक्यते। विवाहलग्नात् सप्तमे भवने ग्रहस्थितिवशाद् जामित्रदोषो भवति। ग्रहरहितो भावो जामित्रगुणसम्पन्नो भवति। यथोक्तं मुहूर्त्तचिन्तामणौ—

लग्नाच्चन्द्रान्मदनभवनगे खेटे न स्यादिह परिणयनम्।
किं वा बाणाशुगमितलवगे जामित्रं स्यादशुभकरमिदम्[१]॥

अतो निष्कर्षरूपेणायं वक्तुं प्रभवामि यन्नायं कश्चन सामान्यो मुहूर्त्तः अपि त्वयं यौगिको मुहूर्त्तः। मैत्रतारायोगेनायं मैत्रो मुहूर्त्तः। अत्रायमपि भवितुमर्हति यत् पूर्वोक्तेषु पञ्चदशमुहूर्त्तेष्वपि मैत्राख्यो मुहूर्त्तो वर्तते योऽनुराधानक्षत्रस्य बोधको वर्तते। अयं प्रत्यहं दिवसे तृतीये मुहूर्त्ते समायाति। अतो दिवसस्य तृतीये मुहूर्त्ते उत्तराफाल्गुनियोगेन मैत्रमुहूर्त्तस्य सम्प्राप्तिर्भवितुमर्हति।

परमाचार्यनीलकण्ठस्य मतं मैत्रतारायोगेन मैत्रमुहूर्तस्य सम्प्राप्तिरिति समीचीनः पक्षः। अतः मैत्रे मुहूर्त्ते शशलाञ्छनेन, योगं गतासूत्तरफाल्गुनीषु इत्यत्र उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे मैत्रताराया योगेन मैत्रमुहूर्त्तस्य सम्प्राप्तिरिति सिध्यति।



१. मु. चि. ६.६७।

# ज्यौतिषे ग्रहणविमर्शः

ग्रहणं नाम तमसा बिम्बेन वा कस्यचिद्बिम्बस्याच्छादनम्। गृह्णातीति ग्रहणम् इति व्युत्पत्या छादकश्छाद्यं गृह्णाति ग्रसति। यद्यपि ग्रहणपदेन केवलं सूर्यग्रहणं चन्द्रग्रहणञ्च गृह्यते परं अन्येषामपि ग्रहपिण्डानां ग्रहणं भवति किन्तु स्वनग्नचक्षुषा तेषां ग्रहणानां प्रत्यक्षीकरणमस्माभिर्न क्रियते। तेषां पिण्डानां छाद्यछादकानाञ्चाति दूरत्वात् । ग्रहणं कथं भवति? तत्र को हेतुः? इति जिज्ञासायां गणितज्ञशिरोमणिः श्रीगणेशदैवज्ञो वक्तिः— ''छादयत्यर्क-मिन्दुर्विधुं भूमिभा'' (ग्रहलाघवः) अर्थात् सूर्यग्रहणे सूर्यविम्बं इन्दुश्चन्द्रः आच्छादयति चन्द्रग्रहणे च भूमिभा भूमेश्छाया चन्द्रविम्बमाच्छादयति। इयं स्थितिर्यस्मिन् कस्मिन्नापि काले भवितुनार्हति अपि तु नियतेनैव कालेन नियतायां तिथावेव सम्भवति। सा च तिथिः पूर्णिमामा च विद्यते। चन्द्रग्रहणं पूर्णिमायाम् सूर्यग्रहणञ्चामायां भवति। अत्र हेतुर्वर्तते यत् सूर्यः भूमिं परितो भ्रमन् यदा भूमेरेकपार्श्वे भवति तथा च चन्द्रो भूमिं परिक्रम्यापरपार्श्वं समायाति तदा सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये अशीत्युत्तरशतांशात्मकमन्तर भवति। एतादृशी स्थितिर्पूर्णिमायामेव सम्भवति।'परिणामतः त्रयाणां सूर्य-भू-चन्द्राणां एकसूत्रे स्थितिवशात् सूर्यकिरणैरुत्पादिता भूमेश्छया चन्द्रकक्षायां स्थितस्य चन्द्र-विम्बस्योपरि पतति। भूच्छायायां प्रविष्टश्चन्द्रोऽदृश्यो भवति। इदमेव चन्द्र-ग्रहणम् । यदा स्वल्पमेव विम्बं भूच्छायायां प्रविशति तदा खण्डग्रहणं यदा समग्रं विम्बं ग्रस्तं भवति तदा खग्रासग्रहणं जायते। चन्द्रविम्बेन सह खस्याकाशस्यापि केचन अंशा आच्छादिता भवन्ति। अतोऽस्य खग्रास इति अन्वर्थं नाम। विदितचरमिदं यत् चन्द्रविम्बं सूर्यप्रभया प्रकाशितो भवति। अतः कृष्णवर्णायां मूच्छायायां प्रविष्टश्चन्द्रोऽदृश्यो भवति। एतेन चन्द्रग्रहणं सर्वत्र समानरूपेण दृश्यते। स्थानभेदेन ग्रहणस्वरूपे किमप्यन्तरं न जायते। परं सूर्यग्रहणे स्थितिर्भिन्ना भवति। सूर्यग्रहणं स्थानभेदेन भिन्नं-भिन्नं दृश्यते। तत्रायमेव हेतुर्यत् सूर्यग्रहणे सूर्याचन्द्रमसोः स्थितिरेकस्यामेव दिशि भवति। सूर्यः स्वयं प्रभा सम्पन्नः। चन्द्रश्च स्वयं प्रभाहीनः। अतश्चन्द्रपिण्डस्य सूर्याभिमुखो भागः प्रकाशितो भवति, अपरपार्श्वश्चाप्रकाशितः कृष्णवर्णात्मको

भूत्वाऽदृश्यो भवति। अस्मादेव कारणादमायां चन्द्रो न दृश्यते। सर्वोपरि सूर्यस्तस्याधश्चन्द्रस्ततो पृथ्वी अमायां भवति। एवं भूस्थो द्रष्टा चन्द्रस्य कृष्णाविम्बेनाच्छादितं सूर्यमण्डलमवलोकयति। सूर्यमण्डलस्य महत्वात् चन्द्रमण्डलस्य लघुत्वाद् यदा त्रयाणां स्थिति भूगर्भसूत्रे भवति तदा सूर्यस्य कङ्कणग्रहणं जायते। मध्ये कृष्णवर्णः परिधिगतश्च प्रकाशः। एवमेव भूपृष्ठोपरि यत्र चन्द्रविम्बमवरोधकत्वेन न भवति तत्र स्वल्पमपि ग्रहणं न दृश्यते। अतः स्थानभेदात् एककालावच्छेदेन सूर्यग्रहणं खग्रासः खण्डग्रासश्च दृश्यते। एवं चित्रागतिः सूर्यग्रहणस्य। अत्र सैद्धान्तिकमपि कारणं उपस्थाप्यते मया। चन्द्रग्रहणे छादिका भूमा छादकश्चन्द्रश्च एकस्यामेवकक्षायामुभौ स्थितौ भवतः। परमत्र सूर्यग्रहणे छादकश्चन्द्रश्चन्द्रविमण्डले छाद्यः सूर्यश्च क्रान्तिमण्डले स्थितो भवति। एवं भिन्न-भिन्न कक्षायां स्थितौ रवीन्दू गर्भाभिप्रायेण एकस्मिन्नेव सूत्रे स्थितावपि भूपृष्ठाभिप्रायेण किञ्चिदन्तरितं दृश्येते। इदमन्तरं लम्बनसंज्ञकं भवति। खमध्ये चास्याभावो क्षितिजे तु परमत्वं भवति। एवमेव याम्योत्तर-मन्तरबोधिका नतिरपि भवति। अनयोर्नतिलम्बनयोः सकाशात् सूर्यग्रहणे स्थानभेदादन्तरं दृश्यते। उक्तञ्चात्र श्रीमताभास्कराचार्येण[१]—

पर्वान्तेऽर्कं नतमुडुपतिच्छन्नमेव प्रपश्येत्।
भूमध्यस्थो न तु वसुमतीपृष्ठनिष्ठस्तदानीम्।
तद्दृकसूत्राद्धिमरुचिरधो लम्बितोऽर्कग्रहेऽतः
कक्षाभेदाहि खलु नतिर्लम्बनं चोपपन्नम्।।
समकलकाले भूभा लगति मृगाङ्के यतस्तया म्लानम्।
सर्वे पश्यन्ति समं समकक्षत्वान्न लम्बनावनती।।

ग्रहणमुद्दिश्यात्रायं प्रश्नः समुदेति यत् कथन्न प्रतिपूर्णिमायाममायाञ्च सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं जायते। प्रतिपूर्णिमायाममायाञ्च ग्रहणं न सम्भवति यतो हि रविकक्षातोभूकक्षा पञ्चांशं यावन्नम्रा वर्तते। अतः कदाचिद् भूमेश्छाया चन्द्रपिण्डात् चन्द्रविमण्डलाच्चोपरिष्ठादधस्ताद्वा गच्छति। येन मूच्छायायां

१. सि. शि.

चन्द्रः प्रविष्टो न भवति। यदा चन्द्रविमण्डलस्य धरातले भूच्छाया भ्रमति तदैव चन्द्रग्रहणं सम्भवति। सैद्धान्तिकपरिभाषया यदा शरस्याल्पत्वं भवति तदा एव ग्रहणम्। ग्रहणसम्भवासम्भवकालज्ञानार्थं ज्यौतिर्विद्भिरुक्तम्—

''एवं पर्वान्ते विराह्वर्कबाहोरिन्द्राल्पांशाश्चेद् सम्भवो ग्रहस्य''।

अर्थात् पूर्णान्ते राहुरहितस्य सूर्यस्य भुजांशाः यदि चर्तुदश अंशादल्पाश्चेत्तदा ग्रहणस्य सम्भवो नान्यथा। सूर्यसिद्धान्तेऽप्ययमेव सिद्धान्तः प्रतिपादितो वर्तते—

''भानोर्भार्धे महीच्छाया तत्तुल्येऽर्क समेऽपि वा।

शशाङ्कपाते ग्रहणं कियद् भागाधिकोनके।।''

अर्थात् सूर्यस्य राशिषट्कान्तरे भूच्छाया भ्रमति। शशाङ्कपाते तत्तुल्ये वा रविसमे वा कियद् भागाधिकोनके ग्रहणस्य सम्भवो भवति। अत्र कियद् भागाधिकोनके इत्यस्याभिप्रायश्चतुर्दशांशादल्पे सति ग्रहणस्य सम्भव इति। अत्र शशाङ्कपातो नाम राहुः। क्रान्तिवृत्तचन्द्रविमण्डलयोः सम्पातौ राहुकेतू संज्ञकौ वर्तेते। श्रीमता भास्कराचार्येणोक्तम् यत् —

''राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं

शशाङ्कगश्छादयतीनविम्बम् ।

तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्

सर्वागमानामविरुद्धमेतत् ।।

अत्र राहुर्नाम भूमेश्छाया। राहुः कश्चन दैत्यः यः शम्भुवरप्रदानात् तमोमयः सञ्जातः। अन्यैरपि दैवज्ञैः अस्य संकेतः कृतः—

अमृतास्वादविशेषाच्छिन्नमपिः शिरः किलासुरस्येदम् ।

प्राणैरपरित्यक्तं ग्रहतां यातं वदन्त्येके ।।

अमुमेवाशयमङ्गीकृत्य पुराणेषु कथानकमिदं दरीदृश्यते यत् राहुर्नामदैत्यश्चन्द्रं सूर्यञ्च काले-काले ग्रसति। अत्र राहुकृतो ग्रासः सुसंगतः सिद्धान्त-

सम्मतश्च वर्तते। पुराणेषु वर्णिताः बहवः कथानकाः ज्यौतिषसिद्धान्तसम्माताः सन्ति। पुरा यदा ज्यौतिषसिद्धान्तः पूर्णरूपेण परिष्कृतो नासीत् तदानीमपि ग्रहणगणिते आचार्याः पूर्णसक्षमा आसन्। वेदाङ्गज्यौतिषे ग्रहणचक्रनामकं ग्रहणसाधनविधानं वर्तते। तत्रोक्तं यत् ग्रहणानांमष्टादशवर्षात्मकं चक्रं भवति। अत्रिगोत्रीया ब्राह्मणा अस्य गणितस्य ज्ञातारःकर्त्तारश्चासन्। तदानीं ग्रहण-गणितस्यातीव सरला सरणिरासीत् । राहुपातस्य स्फुटपरिभ्रमणकालमाश्रित्य ग्रहणचक्रस्य कल्पना कृता वर्तते। एकग्रहणकालादष्टादशवर्षानन्तरं पुनः-तादृशमेव ग्रहणं समागमिष्यति। अर्थात् सर्वेषां ग्रहणानां पुनरावृत्तिः अष्टादश-वर्षाणामेकादशदिवसानाञ्चानन्तरं भवति। अस्मादेव सिद्धान्तात् पूर्वाचार्यैः ग्रहणज्ञानं कुर्वन्तिस्म। महाभारतकालं यावत् इयं परम्परा आसीत्। महाभारते त्रयोदशदिवसात्मकस्य पक्षस्य एकस्मिन् मासे ग्रहणद्वयस्यापि चर्चा वर्तते। यदा मासे ग्रहणद्वयं दिनसंख्या च अल्पीयसी भवति तदानीं विश्वोद्वेगकर-मुत्पातं भवति। महाभारतयुद्धकालात् प्रागियं स्थितिरासीत्। उक्तञ्च महाभारते—

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेऽहममावस्यां त्रयोदशीम्।
सूर्यचन्द्रावुभौ ग्रस्तौ एकमासीं त्रयोदशीम्
अपर्वणि ग्रहावेतावुत्पातं जनयिष्यतः।।

एकस्मिन् मासे ग्रहणद्वयस्य स्थितिः उत्पातसूचिका भवति एवमेव पक्षः त्रयोदशदिवसात्मकोऽपि अशुभसूचकः। द्वयोर्निमित्तयोर्युगपदेव स्थितिः विश्वस्य क्षयङ्करी जाता।

संहितासु प्रतिपादितानामुत्पातानां प्रभावः सर्वत्र दरीदृश्यते। ग्रहणानां प्रभावः द्विधा वर्णितो वर्तते। तत्रैकः व्यक्तिपरको द्वितीयश्च राष्ट्रपरकः। व्यक्तिपरकः शुभाशुभः ग्रहणकालिकनक्षत्रवशाद् भवति। यस्मिन् नक्षत्रे ग्रहणं भवति तस्मिन् नक्षत्रे जातानां कृते हानिर्मृत्युर्तुल्यं कष्टं वा भवति। एवमेवान्य-राशीषु जातानां कृते भिन्नं-भिन्नं फलं भवति। तद्यथा—

ग्रहणराशित आरम्भ क्रमेण घातः क्षतिः, श्रीः, व्यथा, चिन्ता, सौख्यम्, कलत्रदौस्थ्यम्, मृत्युः, माननाशा, लाभः, हानिश्च भवति।

उक्तञ्च मुहूर्त्तचिन्तामणौ—

जन्मर्क्षे निधनं ग्रहे जनिभतो घातः क्षतिः श्रीर्व्यथा।

चिन्ता-सौख्य-कलत्रदौस्थ्यमृतयः स्युर्माननाशःसुखम्।

लाभोपाय इति क्रमात्तदशुभध्वस्त्यै जपः स्वर्णगो-

दानं शान्तिरथो ग्रहं त्वशुभदं नो वीक्ष्यमाहुः परे।

भारतीयानां दैवज्ञानामृषीणाञ्च मतमासीत् यत् ग्रहणकाले वातावरणं भिन्नं भवति। स चाध्यात्मिकः कालः अतः ग्रहणकालात् प्राक् ग्रहणकाले चाशनं पानं तैर्निषिद्धम्। तत्रोक्तम् धर्मशास्त्रकारैः —

सूर्यग्रहे तु नाश्नीयात् पूर्वं यामचतुष्टयम्।

चन्द्रग्रहे तु यामाँस्त्रीन् बालवृद्धातुरैर्विना॥

ग्रहणकालिकीं कर्त्तव्यतां निरूपयन् स्मृतिकारा कथयन्ति—

स्नानं स्यादुपरागादौ मध्ये होमसुरार्चने।
सर्वस्वेनापि कर्त्तव्यं श्राद्धं वै राहुदर्शने।
अकुर्वाणस्तु नास्तिक्यात् पङ्के गौरिव सीदति
स्नानं दानं तपः श्राद्धमनन्तं राहुदर्शने।
सन्ध्या रात्र्योर्न कर्त्तव्यं श्राद्धं खलु विचक्षणैः
द्वयोरपि च कर्त्तव्यं यदि स्याद्राहुदर्शनम्।
उषस्युषसि यत् स्नानं सन्ध्यायामुदिते रवौ
चन्द्रसूर्योपरागे च प्राजापत्येन तत् समम्॥

आधुनिकैरपि शनैः शनैः ग्रहणजन्यं दुष्परिणामं स्वीकुर्वन्ति। इदानीं वैज्ञानिका अपि सूर्यग्रहणदर्शनं हानिकरमिति स्वीकुर्वन्ति। सूर्यग्रहण-स्यावलोकनेन नेत्रयोर्ज्योतिर्विनष्टा भवति। अतो न केवलं सूर्यग्रहणदर्शनस्य निषेधः अपि तु चन्द्रग्रहणस्यापि दर्शनं हानिकरमिति। विशेषतश्च तेषां कृते

येषां राशौ हानिकरं फलं भवति।

एतत्सर्वं सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणमधिकृत्य विवेचितम्। परमत्रैवेदं विचारणीयं यत् यदा सूर्यग्रहणं भवति तदानीं वस्तुतः पृथिव्या ग्रहणं भवति[१] न तु सूर्यस्य। यतो हि ग्रहणं मूलरूपेण छायया ग्रस्ते सति भवति। सूर्यस्य प्रखरप्रतिभया तस्योपरि पतिता छाया स्वयमेव विनष्टा भवति। केवलं चन्द्रस्यावरोधकत्वेन सूर्यग्रहणं दृश्यते। परं तदानीमेव सूर्यकिरणैरूत्पादिता चन्द्रच्छाया भूमौ पतति। अतः सूर्यग्रहणकाले पृथिव्या अपि ग्रहणं भवति।[1] अन्यपिण्डादवलोकनेन पृथिव्या ग्रहणं द्रष्टुं शक्यते। पूर्वमेव मया प्रतिपादितं यच् चन्द्रः सततं अर्द्धमेव प्रकाशितो भवति। अर्धं च कृष्णावर्णात्मकः। यथोक्तं सिद्धान्त शिरोमणौ—

तरणिकिरणसंगादेष पीयूषपिण्डो
दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति।
तदितरदिशि बालाकुन्तलश्यामलश्री-
र्घट इव निजमूर्तिश्छाययैवातपस्थः।।

अयमेवाप्रकाशितो भागः ग्रहणकाले दृश्यते। तथा चाप्रकाशितभागानुरोधेन समागता चन्द्रच्छाया भूपृष्ठोपरि ग्रहणसदृशं कृष्णत्वमुत्पादयति। एवमेव कदाचित् सूर्यमण्डलस्योपरिबुधस्य छाया दृश्यते। बुधः स्वकक्षायां भ्रमन् सूर्यमण्डलमतिक्रम्य गच्छति। तस्मिन् काले सूर्यमण्डलोपरि गमनशीला कृष्णच्छाया वर्तुलाकारा दृश्यते। इदं बुधकृतं सूर्यग्रहणं भवति। एतादृशं ग्रहणमागामिवत्सरे त्रिनवत्युत्तरएकोविंशतिशततमे नवम्बरमासस्य षट्तारिकायां दृश्यो भविष्यति। अन्येष्वपि ग्रहपिण्डेषु तेषामुपग्रहद्वारा ग्रहणं भवति परं तेषां दर्शनं दूरदर्शकयन्त्रद्वारा एव सम्भवति। यानि ग्रहणानि स्वचक्षुषा दृश्यानि न भवन्ति तेषां भौतिकं आध्यात्मिकं धार्मिकञ्च महत्वं न भवति। यत्र ग्रहणं दृश्यते तस्य प्रभावोऽपि तत्रैव भवति। अतः ग्रहणस्य धार्मिकदृष्ट्या महत्वं ग्रहणदर्शनेन सहैव वर्तते नान्यत्र।

इतिशम्



# दृक्सिद्धपञ्चाङ्गमस्योपयोगित्वञ्च

विदितचरमिदं यत् पञ्चाङ्गानां तिथि-वार-नक्षत्र-योग-करणानामेव समवाय: पञ्चाङ्गमिति कथ्यते। सूर्याचन्द्रमसो: गत्याश्रितान्येतान्यङ्गानि। अनयो: सूर्याचन्द्रमसो: स्वचक्षुषा प्रत्यक्षीकरणं प्रत्यहमस्माभि: क्रियते। अतएव इमावेव साक्षित्वेन ज्योतिशशास्त्रे विद्वद्भि: समादृतौ स्त:। अनयो: प्रत्यक्षत्वेन ज्योतिषस्यापि प्रत्यक्षत्वं प्रतिपादितम्। स्थितावस्यां दृक्प्रत्यक्षातिरिक्तं विचार एवाप्रासंगिक:। ज्योतिषशास्त्रे न कोऽप्याचार्यो दृक्प्रत्ययकारकस्य सिद्धान्तस्य विरोधं कृतवान् अपि तु पूर्ववर्तिसिद्धान्तस्य यथासम्भवं परिष्कार एव कृतवान्। इदं सत्यं यत् कालक्रमेण प्रायश: सर्वे सिद्धान्ता: इदानीं स्थूला: सञ्जाता: तत्रेदानीं दृक्प्रत्यययोग्यता न तथा विधा यथा अपेक्ष्यते। अत एतेषां पुन: संशोधनार्थं एषां दृक्प्रत्ययकारकत्वसिद्धये चास्माभि: कश्चन् समुचित: सर्वसम्मतश्च प्रयास: कर्त्तव्य:। नायं नूतन: प्रयासो भविष्यति अपि तु पूर्वाचार्याणामनुगमनं तेषां निर्देशस्य च पालनमेव भविष्यति। यतो हि काले काले तै: स्वकीयया प्रगल्भया धिया संशोधनेन परिष्कारबलेन चैतेषां शास्त्राणां संरक्षणं कृतम्। आचार्यवराहमिहिर-आर्यभट-ब्रह्मगुप्त-भास्करप्रभृतयो आचार्या: भारतीयज्योतिषशास्त्रस्य या परम्परा स्थापिता तस्या: परम्पराया: संरक्षणार्थं कालक्रमेण तत्रोपस्थितानां दूषणानां निवारणपुरस्सरं कमलाकरभट्ट गणेशदैवज्ञ-वेङ्कटेशबाबूकेतकरमहोदयाश्च प्रयासं कृतवन्त:। ऐते सर्वे आचार्या: दृक्प्रत्ययकारकस्य सिद्धान्तस्यैव समर्थका: पोषकाश्चासन्। कमलाकरभट्टस्तु सुस्पष्टमुदघोषितवान् —

"सुयुक्ता न मुन्युक्तिरप्यत्र शास्त्रे भवेत् कार्यवर्यस्य या दृग्विरुद्धा।[१] अतोऽसंशयं वक्तुं प्रभवामि यद् दृग्विरुद्धा मुनीनामप्युक्ति: शास्त्रेऽ-स्मिन् समाहता नास्ति। अनया उक्त्या इदं प्रतीयते यत् तदानीमपि एतादृशी स्थितिरासीत्। यद्यपि कमलाकरस्य आक्षेपस्थानं भास्कर एव विशेषेणासीत् तथापि वाक्यमिदं दृक्सिद्धान्ते तस्य दृढां निष्ठां प्रकटयति। आचार्यभास्करो दृक्सिद्धान्तस्यैव समर्थका आसन् परं कमलाकरेण स्थाने स्थाने तस्य

---

१. सि.त.वि.

सिद्धान्तानां खण्डनं कृतं कुत्रचित् द्वेषबुद्ध्या कुत्रचिच्च शास्त्रदृष्ट्या। भवतु नाम भास्करोऽपि सिद्धान्तशिरोमणौ स्पष्टरूपेण स्वाभिमतं दृक्सिद्धान्तं प्रति प्रकटितवान् —

''यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।

स्यात् प्रोच्यते तेन नभश्चराणां स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद्या।।

आर्षग्रन्थरूपेण प्रतिष्ठितस्य सूर्यसिद्धान्तस्याप्ययमेवपक्षः। तत्राऽपि दृक्-तुल्यानामेव ग्रहाणां साधनार्थं प्रतिज्ञा वर्तते।

तत्तद् गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः।

प्रयान्ति तत् प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात्।। सू. सि. २.१४

ज्योतिषशास्त्रीयग्रन्थेषु एतादृशी प्रतिज्ञा स्वाभाविकी शास्त्रस्वरूपानुरूपा च। परं पुराणेष्वपि दृक्सिद्धान्तस्योल्लेखः दृश्यते। यथा— वराहपुराणे पार्वतीपरमेश्वरयोः संवादप्रसङ्गे उक्तं वर्तते—

''कथमेतद् विजानीयां सूर्याचन्द्रमसोर्गतिम्।

यथा भवन्ति तिथयस्त्रिंशत् याः कथितास्त्वया।

चक्षुषा नैव सा ज्ञातुं शक्यते व्योमगाः स्थितिः।

अतिसूक्ष्मतया यस्माद् व्रतहानिर्भवेद् ध्रुवम्

ज्ञानोपायमतस्तस्या यथावद् वद मे प्रभो।।व. पु.।

अत्र चन्द्रदर्शनेन तिथेर्ज्ञानं स्थूलमिति मत्वा सूक्ष्मचान्द्रगणनायाः संकेतः वर्तते। स्थूलतिथ्यां व्रतहानेः सम्भावना वर्तते। एतेन स्पष्टं यत् यदि चान्द्रगणना शुद्धा वर्तते तदा तिथेर्मानमपि शुद्धमेव। सूर्यस्य साधने न तथा कष्टं यथा चन्द्रसाधने वर्तते। यदि केवलं सूर्याचन्द्रमसोः स्पष्टतरं ज्ञानं भविष्यति तदा न केवलं तिथेर्मानं शुद्धं भविष्यति अपितु समग्रं पञ्चाङ्गमेव शुद्धं भविष्यति। यतो नक्षत्र-योग-करणानां साधनेऽपि अनयोरेव मानमपेक्ष्यते। अग्रे भगवता शिवेन स्फुटग्रहसाधनार्थं कश्चन निर्देशोऽपि कृतः। सः अवश्यमेवा-

स्माभिश्चिन्तनीयः।

> "ततः सूर्यश्च मुनयः स्वं स्वं सिद्धान्तमूचिरे।
> यस्मिन् देशे यदा काले यद् यत् सिद्धान्तमार्गतः।
> उदयास्तं ग्रहाणां स्याद् ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः।
> विधोर्विलोकनं वापि भवेत् तत्पक्षमाश्रितः।।इत्यादि।

अत्रासंशयं निर्देशो वर्तते यत् येन सिद्धान्तेन चन्द्रसूर्योपरागयोः चन्द्रोदयास्तयोश्च साधनं क्रियते तेनैव सिद्धान्तेन तिथ्यादीनामपि साधनं कर्त्तव्यम्। यदि एवं न भविष्यति तदा व्रतोपवासादीनां मुहूर्त्तानाञ्च महत्वं स्वयमेव विनष्टं भविष्यति। आचार्येण मल्लारिणा ग्रहलाघवस्य टीकायां लिखितम् — "यस्मिन् यस्मिन् काले यद् यद् दृग्गणितैक्यकृत् तदेव ग्राह्यं घटमानत्वात् ।" एवं सर्वत्रैव चर्चा दृग्गणितैस्यैव वर्तते। परमेतेनापि कार्यसिद्धिर्न भवति। कल्प्यते सूर्याचन्द्रमसोः दृक्सिद्धान्तेन सिद्धिर्जाता। तथापि तिथ्यानयने कश्चन विचारोऽ वशिष्टः। धर्मशास्त्रस्य प्रमाणवाक्यं वर्तते "बाणवृद्धिरसक्षयात्मिका तिथिरेव ग्राह्या। यद्यप्ययं ज्योतिषशास्त्रस्य तिथेर्नियामकं वाक्यं नास्ति। परं शास्त्रा-न्तरस्य तु वर्तत एव। वस्तुतः इदं वाक्यं मानव मस्तिष्कजन्यं वर्तते। तिथिमानं तु मानवाधीनं नास्ति तत्तु सूर्याधीनं चन्द्राधीनं च वर्तते। अतस्तिथिमधिकृत्य कश्चन्नियामकं वाक्यं सापेक्ष्यमेव भवितुमर्हति न तु शाश्वतिकम्। यतो हि तिथेः साधनं सूर्याचन्द्रमसोः सकाशादेव भवति यथा पूर्वमेवोक्तम्। अनयोर-स्थिरत्वात् तिथिमानमप्यस्थिरम्। अतो भवेन्नाम कदाचित् कस्मिन् काले बाणवृद्धिरसक्षयात्मिका तिथिः शुद्धा, इदानीं तु सा न व्यवहारयोग्या। इतिहासपृष्ठावलोकनेनेदं स्पष्टं भवति यत् कालभेदात् तिथेरपि ह्रासवृद्ध्योः परिमाणेऽपि परिवर्तनं भवितुमर्हति। यथा वैदिककाले तिथेः स्वरूपं सर्वथा भिन्नमासीत् । तदानीं चान्द्रमासस्य त्रिंशद् भागात्मकः कालस्तिथिरासीत् ।

यथा— $\frac{\text{चान्द्रो मासः}}{\text{३०}} = \frac{\text{२९.५३}}{\text{३०}} = .\text{९८४३५३}$ दिससात्मकः एकतिथेर्मानम् तच्च एकदिवसान्न्यूनः अनया रीत्या प्रतिपादितः पञ्चदशीं

पर्यन्तं तिथेर्गणनायाः व्यवहार आसीत्। परं शनैः शनैः सिद्धान्तज्योतिषस्य विकासेन सूर्याचन्द्रमसोः स्फुटगतिज्ञानेन च तिथिमानमपि परिवर्तितम्। इतिहासकाराणां मतेन ४०० ईशाब्दारम्भात् तिथिगणनायाः परिष्कृतं स्वरूपं व्यवहारे समायातम्। ततोऽनुदिनं सिद्धान्तज्योतिषशास्त्रे संशोधनं संवर्धनं परिष्कारक्रमञ्च प्रचलितम्।

इदानीं तिथे परिष्कृतं स्वरूपं व्यवहारे वर्तते। तच्चैवम् — "रविचन्द्रयोः भगणान्तरं चान्द्रमासाः भवन्ति। यथोक्तं भास्कराचार्येण "अन्तरं तरणि-चन्द्रचक्रजं यत् स विधुमास सञ्चयः।" (सि. शि.) एकस्मिन् रव्यब्दे रवेर्भगणसंख्या एक एव भवति। चान्द्रभगणाश्च त्रयोदश। अनयोरन्तरम् (१३-१ = १२) द्वादश मासाश्चैत्रादयो भवन्ति। एकस्मिन् मासे त्रिंशत् संख्याकास्तिथयो भवन्ति। अमान्तादमान्तं यावच्चान्द्रो मासः। अमान्तो नाम सूर्याचन्द्रमसोर्योगः एकत्र स्थितिर्वा राश्यादिमानेन। अतो रविन्द्वोरेकयोगादपरयोगं यावदेकश्चान्द्रो मासः। तत्रोभयोरन्तरांशाः ३६०° (षष्ट्युत्तरशतत्रयमिता) भवन्ति। एष्वन्तरांशेषु त्रिंशत् संख्याकाः तिथयो व्यतीताः भवन्ति। अतोऽनुपातः क्रियते—

यदि त्रिंशत् तिथिषु षष्ट्युत्तरशतत्रयमितान्तरांशास्तदा एकतिथिसम्बन्धि रविचन्द्रयोरन्तरांशैः किमिति— $\frac{३६०\times१}{३०} = १२$ । अत्र लब्धान्तरांशाः द्वादशपरिमिता। अनेन सिद्धं यत् रविचन्द्रयोर्योगाद् द्वादश अंशं यावदन्तर-मेकतिथेर्मानं भवति।

अत्र निष्कर्ष रूपेण इदमेवायाति यत् दृक्प्रत्यय सिद्ध्यर्थं भारतीय-सिद्धान्तेषु परिष्कारोऽपेक्ष्यते। तत्र परिष्कारस्य स्वरूपं विद्वद्भिः सम्भूय विचारणीयम्। अन्यथा शास्त्रस्य रक्षणमपि दुष्करं भविष्यति। दृक्प्रत्यय-स्योद्घोषः भारतीयशास्त्रकाराणामेव वर्तते। अतो नान्यः पन्था परिष्कारं विना।



# महर्षिवाल्मीकेः ज्योतिषशास्त्रीया दृष्टिः

नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वभावनः।

तेजसामपि तेजस्वी द्वादशात्मन् नमोस्तु ते।। वा. रा. ६.१०५.१५

आदिकवेर्महर्षिवाल्मीकेर्भारतस्येतिहासभूतायां रचनायां त्रिस्कन्धात्मकस्य ज्योतिषस्योल्लेखः पदे पदे दृश्यते। विस्तृतं भूगोलवर्णनमन्तरिक्षस्य विवेचनं, शकुनानि, जातकमङ्गलक्षणप्रभृतयो बहवो विषयाः महर्षेर्ज्योतिषानुरागं सुस्पष्टतया प्रदर्शयन्ति। कथाव्याजेनापि ज्योतिशास्त्रस्य केषाञ्चन गूढविषयाणां सरलतयोपस्थापनमादिकवेः पाटवमभिव्यञ्जयति। वाल्मीकीयरामायणे समागतेषु ज्योतिषविषयेषु केचनंशाः समासेनात्रोपस्थापनाय प्रयासः क्रियते।

सर्वप्रथमं भगवतो रामचन्द्रस्य जन्मकालिकं विवरणं प्रस्तूयते। महर्षिणा उक्तम्[१] यत् पुत्रेष्टि-यज्ञानन्तरं षड्ऋतुषु व्यतीतेषु (अर्थात् द्वादशमासानन्तरं) चैत्रशुक्लनवम्यां पुनर्वसुनक्षत्रे कर्कलग्नोदये, चन्द्रेण सह लग्नस्थिते देवगुरौ कौशल्या सर्वगुणसम्पन्नं राममजनयत्। तदानीं सूर्य-भौमगुरुशुक्रशनैश्चराः स्वस्वोच्चराशौ स्थिता आसन्। एवं प्रायशो दिवसान्तरेण पुष्यनक्षत्रे कैकेयी भरतं तथा च सुमित्रा लक्ष्मणं शत्रुसूदनञ्चाजनयत्। अत्र जन्म-प्रसंगे ऋतुमासतिथिनक्षत्रलग्नादीनां विशिष्टयोगानाञ्च संकेतः कृतः। एवमन्येऽपि बहवो ज्योतिषशास्त्रीया प्रसंगास्सन्ति येषां चर्चा बहुबारं बहुभिः कृता अतस्तेषां सर्वेषामत्र उल्लेखो मया न क्रियते। केवलं ये विशिष्टा विषयाः सन्ति ते एवात्रोपस्क्रियन्ते।

**१. वायुस्कन्धाः–** भूमिं परितो ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण सप्तवायोः स्कन्धाः सप्तलोकानावृत्य प्रबहन्तीति। तेषां विषये वाल्मीकीयरामायणे एका कथा वर्तते। एकदा इन्द्रो दितेर्गर्भं प्रविश्य गर्भस्थं शिशुं सप्तधा खण्डितवान्, अनया घटनया दितिः खिन्ना भूत्वा इन्द्रं जगाद। त्वया प्रियं न कृतम्। अतः

१. १.१८.८-१०

एतान् खण्डान् तथा कुरु येन एते लोकपाला भवेयुः।[१] दुःखितायाः दितेरिच्छया ते गर्भखण्डाः सप्त सप्त स्वरूपात्मकाः सप्त मरुद्गणा अभूवन्। सप्तसप्तात्मका अर्थात् एकोनपञ्चाशत् मरुद्गणा वायवो वा सञ्जाताः। सप्त स्वरूपात्मकाः सप्त वायवः क्रमेण सप्तवायोः स्कन्धरूपेण प्रतिष्ठिताः। तेषां नामानि चैवम् —

१.आवहः, २. प्रवहः, ३. संवहः, ४. उद्वहः, ५. विवह;, ६. परिवहः, ७. परावहः। ज्योतिषशास्त्रेपि अनेनैव क्रमेण सप्तवायूनां वर्णनं वर्तते। तत्र भूमिं परितो प्रथमं भूवायोर्मण्डलं वर्तते येनास्माकं जंगमानां स्थावराणां जीवनयात्रा प्रचलति। तदनन्तरं ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण आवहादयो वायवः सन्ति। एषु प्रवहवायोः चर्चा ज्योतिषे विशेषेण भवति। यतो हि प्रवहवायुरेव ग्रहान् प्रेरयति। यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते —

प्रवहाख्यो मरुत् तांस्तु स्वोच्चाभिमुखमीरयेत्।[२]

आवहसंज्ञकोवायुर्भूमेरावरणमस्ति। अस्मादेव भूमेर्वायुमण्डलस्य, वर्षायाः, मेघादीनाञ्च संरक्षणं भवति। एवमन्येषामपि वायुमण्डलानां भिन्नं-भिन्नं कार्यक्षेत्रं च वर्तते। ते स्वस्वलोके स्वीयं स्वीयं कार्यं निर्वहन्ति लोकान् रक्षन्ति च।

**२. ब्रह्माण्डविस्तारः–** सीताया अन्वेषणप्रसंगे किष्किन्धाकाण्डे चतुर्दिक्षु प्रेषिता वानरप्रमुखाः सीमान्तं यावद्गत्वा ततः परावृत्य समानं वक्तव्यं दत्तवन्तः। भूयो भूयः महर्षिणा वाल्मीकिना उद्धृतम्[३] —

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुंगवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्।।

वानराणामियमुक्तिः गीतायां भगवतः श्रीकृष्णस्येदं वाक्यं स्मारयति।

---

१. १.४७. १-७

२. सू. सि. २.३

३. वा. रा. ४.४०.६८,४.४२.५१, ४.४३.५८-५९

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद् गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम॥[1]

वस्तुत इयं स्थितिर्ब्रह्माण्डस्य सीमान्तप्रदेश एव दृश्यते। यतो हि ब्रह्माण्डान्तं यावत् सूर्यस्य करप्रसारो भवति। ब्रह्माण्डात्परं प्रकाशाभावः, घोरान्धकारावृतोऽनन्ताकाश एव वर्तते। ज्योतिषे ब्रह्माण्डस्य सीमा सूर्यस्य प्रकाशं यावदेव परिभाषिता वर्तते। उक्तञ्च सूर्यसिद्धान्ते—

कल्पोक्तचान्द्रभगणा गुणिता शशिकक्षया

आकाशकक्षा सा ज्ञेया करव्याप्तिस्तथा रवेः। सू. सि. १२.८१

अनया रीत्या यदि गणना क्रियते तदा ब्रह्माण्डस्य सीमाप्रमाणमेवं भवति—

कल्पचान्द्रभगणाः × चन्द्रकक्षायोजननानि = आकाशकक्षा

युगचान्द्रभगणाः = ५७७५३३३६। एते सहस्रगुणिताः कल्पे स्युर्भगणादयः इत्यादिना

५७७५३३३६ × १००० = ५७७५३३३६००० कल्पचान्द्रभगणाः

चन्द्रकक्षायोजनानि = ३२४०००। अतः उभयोः गुणनेन जातम् —

५७७५३३३६००० × ३२४००० = १८७१२०८०८६४००००००

योजनानि आकाशकक्षायाः प्रमाणम्

एतावद्योजनं यावद् सूर्यकरप्रसारो भवति तदनन्तरं सर्वथा अन्धकार एव।

यावदहं जनामि वानराणां वक्तव्यव्याजेन ब्रह्माण्डस्य सीमा महर्षिभिः प्रदर्शिता।

**३. भूमेः स्वरूपम्** – वानरराजसुग्रीवो भूमेः स्वरूपं वर्णयन्नुक्तवान् —

आदर्शतलसंकाशा ततो वै पृथ्वी मया।

अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत् कृता॥ वा० रा० ४.४६.१३

१. गीता १५.६

अत्र आदर्शतलसंकाशा, अलातचक्रप्रतिमा, इति शब्दद्वयं विचारणीयम्। इयं भूमिः सर्वत्र समतलाकारा मुकुरोदरसन्निभा दृश्यते। परमस्य वास्तविकं स्वरूपमेतादृशं नास्ति। पृथ्वी वर्तुलाकारा अलातचक्रवत् कन्दुकारा वा वर्तते। अस्याः समत्वं वर्तुलत्वं वा स्यात् इत्याशंकां परिहरन् आचार्यभास्करो वक्ति—

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः।

उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते।

यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते।

उदगयं ननु मेरुरथांशुमान् कथमुदेति च दक्षिणभागके।।

सि. शि. भू. ११,१२

अर्थात् यदि पृथ्वी समा मुकुरोदरसन्निभा स्यात् तदा ऊर्ध्वगतः खमध्यस्थो भास्करः सर्वैः जनैः कथन्नावलोक्यते। यदि मेरुणान्तर्हितः सूर्यस्तदा मेरुः कथन्न दृश्यते। अर्थात् भूमेः समत्वे सति रवेर्दर्शनं सदैव भविष्यति। तदानीं उदयास्तयोः स्थितिरेवासम्भवा। एतादृशी स्थितिर्भूमे वर्तुलत्वे एव सम्भवति नान्यथा। इयं भूर्गोलाकारा आकाशे निराधारा स्वशक्त्या तिष्ठति। यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते —

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति (सू. सि. १२.३२)

आचार्यभास्करेणापि भूमेः स्वरूपस्यातीव रमणीयं विस्तृतञ्च विवेचनं कृतम्। तद्यथा—

भूमेः पिण्डः शशांकज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा-

वृत्तैर्वृत्तो वृतः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोयम्।

नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे

निष्ठं विश्वं च शश्वत्सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्।।

सर्वतः पर्वतारामग्रामश्चैत्यचयैःस्थितः।

कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव॥ ( सि. शि. भू. भु. २-३ )

अत्र भूमेरुपमा कदम्बकुसुमैः सहातीव समीचीना प्रतिभाति। अतो भूमेः वर्तुलत्वमसन्दिग्धम्। अग्रे अस्य समत्वदर्शने हेतु प्रदर्शयन्नाचार्यो वक्ति—

समो यतः स्यात् परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्।

नरश्च तत् पृष्ठगतस्य कृत्स्नां समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा॥

अत्राशयो यत् कस्यापि परिधेः शतांशः समः सरलो वा दृश्यते। वयं तु शतांशादल्पमेव पश्यामः। गणितीयसिद्धान्तो वर्तते यत् ''परिधेः षण्णवत्यंशो दण्डवत्परिदृश्यते।''

अस्मादेव कारणाद् भूमेः समत्वं दृश्यते। अत्र रामायणे आदर्शतल-संकाशा अलातचक्रवच्चोभयोः शब्दयोर्युगपत्प्रयोगः समीचीनः व्यावहारिकश्च।

**४. कृत्रिमतारकस्य निर्माणं प्रक्षेपणञ्च –** इदानीमन्तरिक्षस्य ग्रहाणाञ्च रहस्य-ज्ञानाय नूतनानुसन्धानार्थं वैज्ञानिका अन्तरिक्षे कृत्रिमोपग्रहाः प्रक्षिपन्ति। तेषां काचिदवधिर्भवति तावत्कालपर्यन्तं ते उपग्रहाः कार्यं कुर्वन्ति अनन्तरं ते विनष्टा भवन्ति। परं विश्वामित्रेण प्रक्षिप्तः कृत्रिमतारकोऽद्यापि दक्षिणाकाशे देदीप्यमानो दृश्यते।

विश्वामित्रद्वारा त्रिशंकोः सशीररस्वर्गारोहणस्य कथा अतिप्रसिद्धा एव वर्तते। अस्यां कथायां कश्चन विचारणीयः पक्षोऽस्ति। राजा त्रिशंकुरन्तरिक्ष-यात्रायामनुरक्त आसीत्। स सशरीरं स्वर्गं गन्तुकामनया यज्ञार्थं निवेदयामास, परं तस्य प्रस्तावो न कैश्चित् स्वीकृतः अपि तु वसिष्ठादिभिः स तिरस्कृतः। अन्ते विश्वामित्रस्यान्तिकं गत्वा स्ववेदनां निवेदयामास। विश्वामित्रस्तस्य प्रस्तावं स्वीकृत्य सोत्साहमुक्तवान् —

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वरः।

एष त्वां सशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा॥ वा. रा. १.६०.१३

विश्वामित्रोन्तरिक्षविद्यायां शस्त्रविद्यायां कृषिविद्यायाञ्चातीव निपुणा आसन्। ते सृष्टेः रहस्यमपि जानन्तिस्म। अस्मादेव तेषां प्रतिष्ठा अपरब्रह्मणो रूपेणासीत्। आवश्यकीमितिकर्तव्यतां प्रपूर्य तं सशरीरं स स्वर्गं प्रेषितवान्। परं स्वर्गाधिप इन्द्रस्तं न स्वीचकार। तेन बलात् त्रिशंकुं भूम्यभिमुखमपातयत्। पतन्तं त्रिशंकुमवलोक्य क्रुद्धो विश्वामित्रो भूस्वर्गयोर्मध्ये मध्याकाश एव स्वतपोबलात् तं स्थापयामास। अद्यापि त्रिशंकुः दक्षिणमण्डले तारकेष्वन्यतमतारकरूपेण दृश्यते। अत्र सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे सति इयं घटना कैश्चन मनुष्यैः सह न संघटते। इदं महर्षिविश्वामित्रनिर्मितं तारकमेवासीत् त्रिशंकोर्नाम्ना प्रक्षिप्तम्। इदमपि सम्भाव्यते यत् राजा त्रिशंकुरपि सशरीरो यानेन सह प्रक्षिप्त आसीत्। इन्द्ररूपा या शक्तिरासीत् यया पराभूतस्य त्रिशंकोः मार्ग-परिवर्तनं जातं सा ब्रह्माण्डान्तरीया काचित् आकर्षणविकर्षणात्मिका शक्तिरासीत्। भवतु नाम त्रिशंकोः तारकत्वं महत्वं वा असन्दिग्धम्। महर्षिणा निमित्तप्रसंगे स्वयमेवोक्तम् — "त्रिशंकुलोहिताङ्गश्चे[१]त्यादिः।

एतेन त्रिशंकोः ग्रहत्वमेव नक्षत्रत्वं वा सुस्पष्टं प्रतिभाति। महर्षिविश्वामित्रस्यास्त्रशस्त्रविद्ययासह तेषां सृष्टिनिर्माणविषयिणी प्रतिभापि कैश्चित्तिरोहिता नास्ति। तेषां कृते अन्तरिक्षयानस्य निर्माणं कस्यचित्तारकस्य वा रचना अकल्पनीया नास्ति। अस्यान्तरिक्षयानस्य नूतननिर्माणस्य पुष्टिः स्वयमेव महर्षिणा वाल्मीकिना कृता। तेनोक्तं यत् विश्वामित्रेण न केवलं त्रिशंकोः रचना कृता अपितु दक्षिणमण्डले अपरं सप्तर्षिमण्डलमप्यसृजत्। यथोक्तं रामायणे—

ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः।

सृजन् दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः।। 1.60.20-21

अनया वाल्मीकेः स्पष्टोक्त्या निर्माणसम्बन्धि सर्वासां शंकानां समाधानं

१. त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः।। 2.41.।।

स्वयमेव जातम्। नैतावतं क्रोधाभिभूतस्य विश्वामित्रस्य नूतनान्यलोकस्य निर्माणाय इयं दृढा प्रतिज्ञा आसीत् —

"अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्दकः।।" वा. रा. 1.60.23

वाल्मीकीयरामायणस्याधारेणासंशयं वक्तुं प्रभवामि यत् तदानीमन्तरिक्षानुसन्धानं तत्र नूतननिर्माणं यानप्रक्षेपणमित्यादयो विषयाः केवलं काल्पनिकाः नासन् अपि तु व्यवहारिका आसन् । विषयेऽस्मिन् विश्वामित्रस्य कार्याणि प्रमाणभूतानि सन्ति। विश्वामित्रेण कृता अन्या अन्नादीनां सृष्टिः लोके सुप्रसिद्धा एव।

५. मेरुः-'मेरु'पदेन सर्वत्र सौम्ये सुमेरुः याम्ये च कुमेरु इत्याशयो गृह्यते। प्रायशः सर्वैः पौराणिकैर्दैवज्ञैश्च मेरोः स्थानं भूमौ ध्रुवस्थानमेव स्वीकृतम्। परं वाल्मीकीयरामायणे प्रतीच्यामपि मेरोः स्थितिः प्रदर्शिता वर्तते। प्रतीच्यां प्रेषिता सुषेणादयो वानरा तत आगत्य उक्तवन्तो यत्-

"तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तमपर्वतः।

आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तः वरः पुरा।।" वा. रा. 4.42.38

अग्रे सुषेणेनोक्तं यत् अत्रैव सूर्यो अस्तंगतो[१] भवति। मेरोरग्रे गमनमसम्भवम्। ततः परं किमस्तीति न जानीमः।

ज्योतिषशास्त्रे ध्रुवस्थानमेव मेरुपदेन व्यवह्रियते। उत्तरध्रुवस्थानं मेरुः सुमेरुर्वा कथ्यते। एवमेव दक्षिणध्रुवस्थानं कुमेरुरिति। सुमेरौ देवानां स्थितिः कुमेरौ च दैत्यानाम्। तत्र षण्मासात्मको दिवसः षाण्मासिकी च रात्रिर्भवति। परस्परं विपरीतदिशि स्थितत्वात् यदा सुमेरौ दिवसस्तदा कुमेरौ रात्रिर्भवति। एवमेव यदा कुमेरौ दिवसस्तदा सुमेरौ रात्रिर्भवति। अस्मादेव देवदैत्ययोः भूमौ वर्ष-प्रमाणेन एकवर्षात्मकमहोरात्रं भवति। देवानां सुमेरुवासिनां दिवसारम्भो मेषादिस्थे रवौ भवति। अर्थात् मेषादितो कन्यान्तं यावत् सुमेरौ देवभागे षड् मासात्मको दिवसः तथा च तुलादितो मीनान्तं यावत् षड् मासात्मको दैत्यभागे कुमेरौ दिवसो भवति। यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते—

"मेषादौ देवभागस्थे देवानां याति दर्शनम्।

असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्भागसञ्चरः।।" सू.सि. 12.45

ज्योतिषशास्त्रदृष्ट्या मेषादितः कन्यान्तं यावत् रविरुत्तरगोले भवति तथा च तुलादितो मीनान्तं यावत् रविर्दक्षिणगोले भवति। यत्र रवेर्दर्शनं भवति तत्र दिवसः यत्र चादर्शनं तत्र रात्रिरिति। अनयोर्द्वयोर्मेर्वोः वर्णनं ज्योतिषे तु सर्वत्र वर्तते परं प्रतीच्यामस्ताचलस्थानेऽपि सुमेरुः इति रामायणादन्यत्र मया न दृष्टः। अपरमप्येकं वैचित्र्यं तत्र दृश्यते यत् सौम्ये यत्र सुमेरुः वर्तते तत्र रामायणे सोमसंज्ञकपर्वतस्योल्लेखो वर्तते। अयमेव पर्वतः सौम्यदिशि सीमान्तस्थः। विषयेस्मिन वानरैरुक्तम्

स हि सोमगिरेर्नाम देवानामपि दुर्गमः।

तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितमर्हथ।। वा. रा. 4.43.58.59

अस्मात्परमगम्यः। सोमपर्वतस्य यादृशं वर्णनमत्र वर्तते तेषु कानिचिल्लक्षणानि हिमालयपर्वतं संकेतयन्ति कानिचिच्च सुमेरुपर्वत-स्यानुकारीणि सन्ति। यथा—

समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः पयसां निधिः।

तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान्।। वा. रा. 14.43.53

अर्थात् उत्तरस्यां समुद्रस्य मध्यवर्ति क्षेत्रे कश्चन हेममयो महान् सोमगिरिनामकः पर्वतोऽस्ति। यदि अस्य पद्यस्याशयं गृह्यते तदा उत्तरसागरयोर्मध्यगतं सुमेरुरेव भवितुमर्हति नान्यः। यतो हि उत्तरसागरः उत्तरध्रुवं परितो वर्तते। तत्र हेममयः सुमेरुरेवास्ति। आचार्यभास्करेणापि सुमेरोः वर्णनप्रसंगे लिखितम्—

स इह हि मेरुगिरिःकिल मध्यगः कनकरत्नमयस्त्रिदशालयः।

द्रुहिणजन्मकुपद्मजकर्णिकेति च पुराणविदोमुमपवर्णयन्।। सि.शि.गो.भु. 31

एवं सोमपर्वतस्य प्रमुखानि लक्षणानि सुमेरुमेव संकेतयन्ति। इदमपि

सम्भाव्यते यत् सुमेरोरपरनाम सोमपर्वत इति। यतो हि सूर्याभावेपि हेममय-पर्वतस्य भासा तत्रत्य: प्रदेशो भाति इत्युक्तिस्तत्र सुमेरो: स्थितिं द्रढयति। यथोक्तम्—

स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते।

सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता।। वा. रा. 4.43.55

भूमौ ध्रुवप्रदेशावेव एवं भूतौ स्त: यत्र सूर्याभावो भवति। तत्र कारणं ध्रुवप्रदेशस्य स्थिति: भूमध्यरेखातो नवत्यंशान्तरे वर्तते; भूमध्यात् सौम्ये याम्ये च सूर्यस्य गति: २३.५ अंशं यावदेव भवितुमर्हति। स्थूलमानेन जिनांशं (२४ अंशं) यावदेव भवति। अत: स देश: सदैव विसूर्य एव भवति। यदा सूर्यो मेषादितो कन्यान्तं यावद् उत्तरगोले भवति तावत् कालपर्यन्तं उत्तरध्रुवप्रदेशे सूर्यस्य प्रकाशो दृश्यते। ध्रुवस्य खमध्ये सूर्यस्य स्थिति: कथमपि न सम्भाव्यते। ध्रुवप्रदेशस्य क्षितिजासन्ने मेषादौ रविरुदेति तथा च क्षितिजस्थ: कन्यान्ते अस्तं याति। अस्माकं दृष्ट्या विसूर्यस्यायमेवाभिप्राय: महर्षेर्वर्तते। अत: भूगोलदृष्ट्या खगोलदृष्ट्या च सुमेरुसोमयोर्मध्ये न किमप्यन्तरमित्यस्माकं मनीषा।

**६. अङ्गलक्षणानि-** भारतीयज्योतिषशास्त्रस्य संहितास्कन्धे स्त्रीणां पुरुषाणां पशूनां च शुभाशुभानि अङ्गलक्षणानि प्रतिपादितानि सन्ति। येषामाधारेण आकृत्या एव शुभाशुभस्य स्वभावस्य च ज्ञानं सरलतया कर्तुं शक्यते। अस्या: अङ्गविद्याया: विवेचनमवसरं प्राप्य महर्षिणा सुष्ठु कृतम् युद्धकाण्डे। रावणस्य मायया हतं राममवलोक्य विलापं कुर्वती सीता स्वकीयांगलक्षणानां निष्फलत्वं प्रदर्शयति-

उचुर्लाक्षणिका ये मां पुत्रिण्यविधवेति च।

तेद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृतवादिन:।।

अपि च—

केशा: सूक्ष्मा: समा नीला भ्रुवौ चासंहते मम।

वृत्ते चारोमके जघे दन्ताश्चाविरला मम।। इत्यादय:

एवमत्र विपरीतफलव्याजेन स्त्रीणां शुभानि लक्षणानि निरूपितानि। अन्ते सीता कर्मण: गतिं प्रदर्शयन् उक्तवती—

शोधयित्वा जनस्थानं प्रवृत्तिमुपलभ्य च।
तीर्त्वासागरमक्षोभ्यं भ्रातरौ गोष्पदे हतौ।। (वा.रा. 6.48.15)

इतो प्रागपि महर्षिणा कर्मण: गतिं दैवमतिशेते इति त्रिशंकोर्मुखात् प्रदर्शितम् । तद्यथा—

दैवमेवं परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्।। (वा.रा. 1.58.22)

एतत् सर्वं सुप्रसिद्धमेव अतोऽत्र मया केवलं संकेत एव कृत:।

**7. निमित्तानि**-संहितास्कन्धे प्राकृतोत्पातानां पशुपक्षिजातानां शुभाशुभानां विवेचनं कृतं वर्तते। एतानि लक्षणानि निमित्तसंज्ञकानि शकुनानि वा भवन्ति। येषामुपयोगो यात्रायां युद्धयात्रायां शुभावसरे जनै: क्रियते। अत्रापि रामरावणयोर्युद्धप्रसंगे शकुनानां विवेचनं महर्षिणा संक्षेपेण कृतम्। यथा—

ववर्ष रुधिरं देवो रावणस्य रथोपरि।
वाता मण्डलिनस्तीव्रा व्यपसव्यं प्रचक्रमु:।।
महद् गृध्रकुलं चास्य भ्रममाणं नभस्थले।
येन येन रथो याति तेन तेन प्रधावति।।

इत्यादय: वा.रा. 6.106.21-34

**8. लङ्का**–ज्योतिषशास्त्रे लंकाया: स्थिति: भूमेर्मध्यगता वर्तते। वस्तुतो गणनायां सौकर्यार्थं भूमौ चतुर्दिक्षु भूमध्यरेखाया उपरि चत्वारि स्थानानि कल्पितानि सन्ति। तेषां नामानि समीपस्थ देशस्य नगरस्य वा नाम्ना सुनिश्चितानि। प्राच्यां भूमध्ये यमकोटि:, याम्ये लंका, प्रतीच्यां रोमकपत्तनम्, उदीच्यां च सिद्धपुरम् । उक्तं च सिद्धान्तशिरोमणौ—

लंका कुमध्ये यमकोटिरस्या: प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनं च।
अधस्तत: सिद्धपुरं सुमेरु: सौम्येऽथ याम्ये वडवानलश्च।।

(सि.शि.गो.भु. 17)

एतानि स्थानानि परस्परं कुवृत्तपादान्तरितानि सन्ति। अर्थात् लंकातः नवत्यंशान्तरे पश्चिमे रोमकं रोमकपत्तनात् नवत्यंशान्तरे उदीच्यां सिद्धपुरम्, सिद्धपुरात् नवत्यंशान्तरे प्राच्यां यमकोटिरिति। भारतवर्षस्य दक्षिणे यत्र भारतीयरेखासूत्रस्य भूमध्यरेखया सह सम्पातस्तत्रैव भूमध्यगतं लंकास्थानं सुनिश्चितम्। तस्यासन्ने एव रावणस्य राजधानी लंका आसीत्।

वाल्मीकीयरामायणे लंकायाः स्थितिः गृध्रराजेन सम्पातिना यदुक्तं तच्चैवम् —

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने।
तस्मिंल्लंकापुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा।। वा.रा. 4.58.20

अर्थात् भारतीयसीमान्ताच्छतयोजनविस्तीर्णे समुद्रान्ते रम्या लंकापुरी आसीत्। एतेनापि भूमध्यरेखान्तिके एवास्या लंकायाः स्थितिः सिद्ध्यति।

भूमध्यगतत्वादस्याः लंकायाः ज्योतिषशास्त्रीयं महत्वं वर्तते। कदाचित् शून्यदेशान्तरं भारतीयं रेखादेशमासीत्। इयं रेखा लंका-उज्जयिनी-कुरुक्षेत्र-सुमेरु प्रभृतीन् देशान् स्पृशती पृथिव्याः अपरपार्श्वमतिक्रम्य याम्यध्रुवमुल्लंघ्य पुनः लंकामेति। भास्करोपि रेखादेशं वर्णयन्नुक्तवान्

''यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरिकुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदितं सा मध्यरेखा भुवः।।''

(सि. शि.म.भूप.2)

इयं रेखा विश्वस्य कालमानस्य नियामिका भवति। कदाचित् भारत-वर्षादेव विश्वस्य कालनिर्धारणं भवतिस्म परमिदानीं इयं गणना आंग्लदेशस्य ग्रीनह्विचनगरात् प्रचलति। परं भारतीया गणना प्राचीनसिद्धान्तानुसारमद्यापि स्वरेखादेशादेव भवति। लंकायाः भूमध्यगतत्वादद्यापि लंकायाः क्षितिज-स्याधारेण राशीनामुदयादीनां ज्ञानं क्रियते।

वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्



# अन्नकूटस्य महत्वम्

अन्नकूटं नाम अन्नानां कूट: पर्वत: । अन्नं च कूटं च इत्यप्यवधेयम् । अत्रायं संकेतो यत् अन्नकूटस्य द्विधा व्यवस्था लोके प्रचलिता वर्तते। अन्नानां कूट: इति सर्वत्र प्रचलिता परम्परा विद्यते । अस्यां परम्परायां अन्नानां पक्वान्नानां समवाय: पर्वतीकृत्य विष्णवे, देव्यै अन्नपूर्णायै च नैवेद्याय समर्प्यते। यत्रान्नं च कूटं चैतादृशी व्याख्या गृह्यते तत्रान्नस्य प्रयोग: व्यञ्जने क्रियते तथा च तस्यार्पणं कूटाय गोवर्धनाय क्रियते। अर्थात् कुत्रचिदन्नकूटस्य सम्बन्ध: गोवर्द्धनोत्सवेन सह वर्तते। कुत्रचिच्चोभौ भिन्नौ भिन्नौ स्त:।

प्रत्यब्दं कार्तिकमासस्य शुक्लप्रतिपदि अयमन्नकूटोत्सव: समायाति । दीपोत्सवानन्तरं गृहे गृहे देवालये देवलाये च विविधानां व्यञ्जनानां निर्माणं देवाय चार्पणं भवति। यत्रायमुत्सव: गोबर्द्धनोत्सवेन सह सम्बद्धो वर्तते तत्र कृष्णावतारात् प्राग् भिन्ना परम्परा आसीत् । व्रतराजे बालखिल्याणां ऋषीणां मतमुपस्थापयन् निर्देशो वर्तते यदयं कृषकाणामुत्सव: । धान्य-च्छेदनानन्तरं वृष्टिप्रदातारं सुभिक्षकारकं इन्द्रं प्रति कृतज्ञता ज्ञापकं पर्व इदम् । अस्मिन् पर्वणि सर्वे जना: एकत्रीभूय विविधानां भोज्यपदार्थानां निर्माणं विधाय सश्रद्धं इन्द्राय समर्पयन्ति स्म । अनन्तरं गोक्रीड़ा, नृत्यगीतादिकञ्च कुर्वन्ति स्म । तेषामियं मनीषा आसीद् यदनया रीत्या इन्द्र: प्रीतो भूत्वा अस्माकं कल्याणं विधास्यति । कृषिवृद्ध्यै सुवृष्टिं करिष्यति लोके सुमिक्षं च भविष्यति ।

एकदा कृष्ण: गोबर्द्धनपर्वतस्यान्तिकं गत्वा गोपालैरायोजितमन्न-कूटोत्सवमपश्यत् । तत्र विविधानां पक्वान्नानां लेह्य-चोश्य-पेयादीनां निर्माणं नरनारीणां नृत्यगीतादिकं चावलोक्य कृष्ण: गोपानपृच्छत् । भो भो गोपाला: किं निमित्तमिदमायोजनम् ? कस्मै देवाय प्रीतये एते भोज्यपदार्था अत्रोपस्थापिता: । गोपाला: उक्तवन्त: अये कृष्ण त्वं न जानासि ? अय-

मुत्सवः इन्द्रस्य प्रीतये । अनेनोत्सवेन प्रीतो भूत्वा इन्द्रः सुवृष्टिं करोति अस्माकं कृते मांगल्यं दिशति । वयमपि प्रभूतमन्नमुत्पाद्य सुभिक्षञ्चावलोक्य प्रत्यब्दं इन्द्रं प्रति कृतज्ञतां ज्ञापयामः । त्वमपि अस्मिन् उत्सवे भागं गृहाण । तवापि कल्याणं भविष्यति।

कृष्णेनोक्तम् — भो गोपाः किमिन्द्र अत्रागत्य इदं सर्व स्वीकरोति ? भोज्यपदार्थानास्वादयति ? यदि नहि तर्हि को लाभः ? यः स्वीकर्त्तुं समर्थः तस्मै देयम् । अयं गोबर्द्धनपर्वतः सम्मुखे प्रत्यक्षतः तिष्ठति । अयमेवास्माकं रक्षकः वृष्टिकर्त्ता पालकश्च । अस्यैव पूजा विधेया । अयं सर्वान् पदार्थान् सोत्साहं ग्रहीष्यति । गोपाः परस्परं विमृश्य कृष्णमुचुः किमयं पर्वतः स्थाणुः एतान् भोज्यपदार्थान् गृहीतुं क्षमः? कृष्णेनोक्तम् आम् । समर्थोऽयम् स्वयमेवावलोक्याताम्। एवं श्रुत्वा गोपालाः विविधाः भोज्यपदार्थाः गोबर्द्धनपर्वतं पुरतः स्थापितवन्तः । तत्र पक्वान्नानां पर्वतमपि निर्मितवन्तः । एवं सर्वं तत्रोपस्थाप्य सर्वे गोपाः मुदितलोचना इदमुक्तवन्तः—

गोबर्द्धन धराधार गोकुलत्राणकारक ।
बहुबाहुकृतच्छाय गवां कोटिप्रदो भव ।।
लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता ।
घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु ।।

क्षणानन्तरं गोपालाः नेत्रमुद्घाट्यावलोकितवन्तो यत् गोवर्द्धनेन सर्वे पदार्थाः भक्षिताः । गोपा आश्चर्यचकिताः सञ्जाताः । कृष्णेनोक्तम् पश्यन्तु भवन्त । अयं प्रत्यक्षो देवः । यदि सुखाभिलाषिणो भवन्तस्तदा ऽस्य गोबर्द्धन-स्योत्सवं कुर्वन्तु । गोपाः गोबर्द्धनं च प्रणम्य ततोऽधिकेनोत्साहेन गोबर्द्धनो-त्सवं चक्रुः । महर्षिणा नारदेन एतत्सर्वं वृत्तान्तं श्रुत्वा इन्द्र : कुपितस्तेषां विनाशाय चाचिन्तयत् । आवर्त्त-संवर्त-नील-द्रोण-पुष्कराणं मेघानां कुल-माहूय करकाभिर्घोराभिर्वृष्टिभिर्गोपान् गोकुलं गोबर्द्धनं च नश्यन्तु इति आदिष्टवान् । इन्द्राज्ञया सर्वे मेघाः घोराभिर्वृष्टिभिः गोकुलान् गोपालाञ्च पीडयामासुः । कृष्णस्तं गोबर्द्धनं अंगुल्युपरि उत्थाप्य तस्याधः सर्वे गोपकुलानाहूय तेषां संरक्षणं कृतवान् । अनन्तरं कृष्णस्य प्रभावं विज्ञाय

इन्द्रस्तस्यान्तिकं गत्वा कथयामास—

क्षन्तव्या माकृतिर्विष्णो दासोऽहं शरणागतः ।
यद्रोचते तत्प्रदेयमपराधापनुत्तये ।।

कृष्णः प्रीतो भूत्वा अकथयत् —

यदि प्रसन्नो देवेश उत्सवोऽयं प्रदीयताम् ।
गोबर्धनाय गिरये गोकुलं रक्षितं यतः ।।

ततः प्रभृति इयमन्नकूटपरम्परा गोबर्द्धनेन सह संयुक्ता जाता । अद्याऽपि काशीतोऽन्यत्र गोबर्द्धनोत्सवः अन्नकूटस्यावसरे कार्तिकशुक्लप्रतिपदि एव क्रियते । वस्तुतः गोवर्द्धनप्रसङ्गे कृष्णस्यैव प्राधान्यं वर्तते । अतो अन्नकूटपर्वणि निर्मिताः भोज्यपदार्थाः कृष्णाय, विष्णवे वा समर्प्यन्ते । अस्य माहात्म्यविषये लिखितं वर्तते —

प्रतिवत्सरं तस्मादन्नकूटो विधीयताम् ।
गवां भवति कल्याणं पुत्रपौत्रादि सन्ततिः ।।
ऐश्वर्यं च सदा सौख्यं भवेद् गोबर्द्धनोत्सवात् ।
श्रीकृष्णस्य तु संतुष्ट्यै अन्नकूटो विधीयताम् ।।

एवमियमेका परम्परा कुत्रचिन् मूलरूपेण कुत्रचिच्च किञ्चिदन्तरेणाद्यापि विद्यमाना वर्तते ।

अन्नकूटमुद्दिश्य काश्यां सर्वथा भिन्ना परम्परा वर्तते । अन्नाधिष्ठातृदेवी साक्षादन्नपूर्णा स्वयमेव विराजते । यत्रान्नकूटावसरे विविधमिष्ठान्नैः देव्याः शृंगारो भवति । तत्र षट्पञ्चाशत् व्यञ्जनानां नैवेद्यं भवति । अत्र काश्यां अन्नकूटः स्वतन्त्रोत्सवः । अयं दीपोत्सवादपर दिवसे कार्तिक शुक्ल प्रतिपदि भवति । परमद्य गोबर्द्धनोत्सवो न भवति । कार्तिक शुक्ल द्वितीयायां गोबर्द्धन पूजा भवति । अयं गोबर्धनोत्सवोऽपि किञ्चिद् भिन्नः । अत्र गोमयेन गोबर्द्धनस्य प्रतिमां निर्माय स्थानभेदेन विभिन्नरीत्या पूजनं भवति । अतः

असंशय- मन्नकूटः काश्यां गोबर्धनाद् भिन्न एव।

दीपोत्सवे लक्ष्म्या पूजनं विधाय तदनन्तरं काशीपुराधीश्वर्याः अन्नपूर्णायाः पूजनं भवति। लेह्य - चोश्य - पेय - भक्ष्यादिभेदेन विविधानां भोज्य-पदार्थानां मधुर-तिक्त-कटु-कषायाम्ल-लवणयुतानां षड्रसानां च साकल्येन युतिः पाकशास्त्रस्य महत्वं प्रतिपादयति । भारतीयसंस्कृतौ अन्नपरिष्कारस्य तेषां सुष्ठु प्रयोगस्य च काचन सुदृढा सुव्यवस्थिता च परम्परा आसीदित्यस्य स्मरणमस्मिन्नवसरे भवति । यथा संस्कृतेरन्येषां पक्षाणां शनैः शनैः ह्रासो भवति तथैव भारतीयानां भोज्यपदार्थानां तेषां निर्माणविधीनाञ्चापि लोपो शनैः शनैः दृश्यते । इदानीमेका नूतना संस्कृतिः प्रचलिता वर्तते । स्वादुरहितस्य शुष्कस्य घृतादिविहीनस्य भोज्यपदार्थस्यैव माहात्म्यमिदानीं वर्तते। परं प्राचीना परम्परा अतीव समृद्धा आसीत् यस्य किञ्चिद्दिर्शनमन्नकूटावसरे भवति । भारतीयपाकशास्त्रे 'मसाला' संज्ञकानां एलालवङ्गादीनां प्रयो॰ा विहित आसीत् तत्र केवलं जिह्वातोष एव उद्देश्यं नासीत् । 'मसाला' संज्ञकाः ये पदार्थाः आसन् ते सर्वे औषधिरूपा आसन् अद्यापि तेषां प्रयोगः विविधरोगानुपत्तये क्रियते । यथा — पिप्पली विषये लिखितं वर्तते—

पिप्पली ज्वरहा कृष्या स्निग्धोष्णा कटुतिक्तका ।
दीपनी मरुतश्वासश्लेष्मक्षयापहा ।।

एवमेव मरिचस्य गुणाः-

मरिचं कटुतिक्तोष्णं लघु श्लेष्मविनाशनम् ।
समीर-क्रिमिहृद्रोगहरं च रूचिकारकम् ।।

एवमेव —

एलाद्वयं शीतलतिक्तमुक्तं सुगन्धिपित्तार्तिकफापहारि ।
करोति हृद्रोगमलार्तिवस्तिशूलघ्नमत्र स्थविरा गुणाढ्याः।

एवमन्येषां धान्य-लवङ्गादीनां गुणं निर्दिष्टं वर्तते। येषां व्यवहारो लाभाय वर्तते। अतोऽस्माकं दृष्टया एतेषां पदार्थानामुपयोगः भोज्यपदार्थेषु स्वास्थ्यकरं न तु हानिकरम् । भवतु नाम अस्माकं परम्परा समृद्ध भोजनस्यासीद् यथोक्तं भास्करेण —

"भोज्यं यथा सर्वरसं विनाज्यम्"

अर्थाद् आज्यरहितं भोजनं व्यर्थमिति । अतो हेतोः प्राचीनपरम्परायां पक्वान्नस्यैव माहात्म्यमासीत् । तण्डुलादीनां प्रयोगेऽपि घृतादीनां व्यवहारः आसीत् । अन्नकूटावसरे निर्मिताः पदार्था प्रायशः घृताक्ता दुग्धनिर्मिता वा भवन्ति । देवानां कृते पक्वान्नस्यैव व्यवस्था शास्त्रेषु वर्तते। तत्र कारणं पक्वान्नेषु वातावरणस्य दुष्प्रभावः सद्यः न पतति। तत्र स्थायित्वं भवति । पक्वान्नं एक स्थानात् स्थानान्तरमपि नेतुं शक्यते तत्र न कापि हानिः एतदतिरिक्तमन्नकूटस्यैकः व्यावहारिकः पक्षः । अस्मिन्नवसरे जनाः सम्भूय परस्परं भोज्यपदार्थान् वितीर्य भक्षयन्ति । अतोऽयं भ्रातृभावस्य जनकः। केवलमन्नकूटः स्वकीयां समृद्धां परम्परामेव न स्मारयति अपि तु धार्मिक भावनया सह व्यावहारिकं सौहार्दभावमपि जनयति । धार्मिकदृष्ट्या अन्नकूटस्य माहात्म्यमिदं यत् अनेनोत्सवेन जनेषु समृद्धिभावं वर्धते । गवां कल्याणं भवति पुत्रपौत्रादीनां वृद्धिर्भवति । ये जनाः कार्तिकस्नानं नियमतया संकल्पपूर्वकं कुर्वन्ति यदि ते अन्नकूटोत्सवं न कुर्वन्ति तदा तेषां स्नानजन्य-पुण्यमपि व्यर्थं भवति। अतः धार्मिक दृष्ट्या अस्य महत्वं विशेषेण वर्तते। धर्मक्रियाया निर्वाहेण सहैव स्वदेशीया पाककलायाः संरक्षणम् तथैवावश्यकं वर्तते। अन्यथा वयं सर्वेषां सुस्वादु पदार्थान् विस्मृत्य 'डबलरोटी' संज्ञकपदार्थाश्रितं भवामः । एतादृशा पारम्परिकाः उत्सवाः अस्मान् स्मारयन्ति यत् कीदृशी अस्माकं संस्कृतिरासीत्। इदानीं च वयं कुत्र स्थिता स्मः। अतीतानां स्मरणेन भविष्यत् कालः सुरक्षितो भवति। अतः पारम्परिकोत्सवाः सदैवास्माभिः स्मरणीया इति ।



# भास्करस्य पदलालित्यम्

'दण्डिनः पदलालित्यम् इति सूक्तिस्तु जगत्प्रसिद्धा एव परं शास्त्रान्तरेष्वपि केचन आचार्याः सन्ति येषां रचना प्रायशः गुणग्राहकैस्तिरोहिता। परं तेषां काव्ये लालित्यं सौष्ठवञ्च दरीदृश्यते। कुत्रचिद् रचनायां लालित्यस्य चर्चा स्वयं आचार्यैरेव कृतं यथा— कविवरेण जयदेवेनापि गीतगोविन्दे लिखितम्' —

**''यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।**

**मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।**[1]

तथैव ज्योतिषशास्त्रेऽपि भास्करस्य सरस्वती श्रवणीया मननीया च वर्तते।[2] आचार्यभास्करेणापि स्वकीयरचनायाः लालित्यस्य चर्चा स्वयमेव कृता यथोक्तं लीलावत्याम् 'संक्षिप्ताक्षरकोमलामलपदैर्लालित्यलीलावतीम्'। अन्यच्च 'शुद्धाऽखिलव्यवहृतिः खलु कण्ठसक्ता लीलावतीह सरसोक्तिमुदाहरन्ती।' ललितरचनायाम् आचार्यभास्करस्य स्थानं मूर्ध्नि वर्त्तते। अन्यशास्त्रापेक्षया ज्योतिषशास्त्रे सरसरचना अतीव दुरुहा प्रतिभाति यतो हि तत्र केवलं रूक्षाणामङ्कानां व्यवहारः गणितीयनियमाः, विविधपरिणामानाञ्च विवेचनं वर्तते परं तत्रापि भास्कराचार्येण यादृशी कोमलकान्तपदावली प्रदर्शिता सा नूनं हि श्लाघनीया वर्तते। आचार्यभास्करस्य प्रमुखा कृतिः सिद्धान्तशिरोमणिर्वर्तते। तत्र चत्वारः भागाः सन्ति। प्रथमो भागः लीलावती, द्वितीयः बीजगणितम्, तृतीयः गणिताध्यायः चतुर्थश्च गोलाध्यायः। प्रथमभागे लीलावत्यां[3] व्यक्तगणितम् अङ्कगणितं वा वर्त्तते। तस्य ग्रन्थस्य मंगलाचरणेऽलङ्कारच्छटा दर्शनीया वर्त्तते। यथा—

---

१. गीतगोविन्दम् १

२. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन- २००१) पृ. १

३. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. ३५५

**लीलागललुलल्लोलकालव्यालविलासिने।**

**गणेशाय नमो नीलकमलामलकान्तये।।**[1]

अनन्तरं गणितस्य सूत्राणि उदाहरणानि च ललितपदविन्यासैः आचार्येण प्रदत्तानि यैः गणिताध्ययनेन सह काव्याध्ययनस्याप्यानन्दं पाठकाः अनुभवन्ति। अत्र कानिचित् काव्यात्मकानि उदाहरणानि उपस्थाप्यन्ते सर्वप्रथमं गुणनस्योदाहरणम् :—

**बाले बालकुरङ्गलोलनयने लीलावति प्रोच्यतां**

**पञ्चत्र्येकमिता दिवाकरगुणा अङ्काः कति स्युर्यदि।**

**रूपस्थानविभागखण्डगुणने कल्याऽसि कल्याणिनि**

**च्छिन्नास्तेन गुणेन ते च गुणिता जाताः कति स्युर्वद।।**[2]

अत्र केवलं १३५ एवं १२ अनयोरङ्कयोः गुणनम्, प्राप्तगुणनफले गुणकेन भाग एव अभीष्टं वर्त्तते।

एवमेव घनस्योदाहरण् —

**नवघनं त्रिघनस्य घनं तथा कथय पञ्चघनस्य घनं च मे।**

**घनपदं च ततोऽपि घनात् सखे यदि घनेऽस्ति घना भवतो मतिः।।**[3]

इष्टकर्मप्रसङ्गे भ्रमरसमूहात् भिन्नभिन्नस्थानेषु गतानां भ्रमराणां निर्देशपुरस्सरैः सम्पूर्णभ्रमरकुलस्य संख्याज्ञानाय प्रश्नो वर्त्तते—

**पञ्चांशोऽलिकुलात् कदम्बमगमत् त्र्यंशः शिलीन्ध्रं तयो-**

**र्विश्लेषस्त्रिगुणो मृगाक्षि! कुटजं दोलायमानोऽपरः।**

**कान्ते! केतकमालतीपरिमलप्राप्तैककालप्रिया-**

**दूताहूत इतस्ततो भ्रमति खे भृङ्गोऽलिसङ्ख्यां वद।।**[4]

---

१. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. ९

२. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. १५

३. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. ३१

४. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. ८०

अर्थात् हे मृगाक्षि! भ्रमरकुलानां पञ्चमांशः (१/५) कदम्बपुष्पमगमत्, तृतीयांशः (१/३) शिलीन्ध्रं प्रति अगमत् अनयोरन्तरस्य त्रिगुणितसंख्याकाः भ्रमराः कुटजं प्रस्थिताः एकः भ्रमरः प्रियारूपयोः केतकीमालतीपुष्पयोः परिमलेन युगपदेवाहूतः कदाचित् केतकीं प्रति कदाचित् मालतीं प्रति गच्छन् दोलायमानो दृष्टस्तदा भ्रमराणां संख्या का?

**यातं हंसकुलस्य मूलदशकं मेघागमे मानसं**
**प्रोड्डीय स्थलपद्मिनीवमगादष्टांशकोऽम्भस्तटात् ।**
**बाले! बाल मृणालशालिनि जले केलिक्रियालालसं**
**दृष्टं हंसयुगत्रयं च सकलां यूथस्य संख्यां वद ।।**[1]

अर्थात् हंसकुलस्य या संख्या तस्य दशगुणितवर्गमूलतुल्यहंसाः मानसरोवरं प्रति गताः तथा च अष्टमांश (१/८) - तुल्याः हंसाः स्थलकमलिनीवनं प्रति गताः। तस्मिन्नेव जलाशये मृणालैः सह सङ्क्रीडमानानां हंसानां युगत्रयी दृष्टा। हे बाले! अस्मिन् हंसकुले हंसानां संख्या का? वद।

द्वितीयम् —

**पार्थः कर्णवधाय मार्गणगणं क्रुद्धो रणे संदधे**
**तस्यार्धेन निवार्य तच्छरगणं मूलैश्चतुर्भिर्हयान् ।**
**शल्यं षड्भिरथेषुभिस्त्रिभिरपिच्छत्रं ध्वजं कार्मुकं**
**चिच्छेदास्य शिरः शरेण कति ते यानर्जुनः संदधे ।।**[2]

क्रुद्धोऽर्जुनः कर्णवधाय शरसमूहं नीत्वा युद्धभूमिं जगाम। सम्पूर्ण-शरस्यार्धेन कर्णेन प्रयुक्तबाणानां निवारणं कृतम्। शरसमूहस्य चतुर्गुणित-वर्गमूलतुल्यशरैरश्वानां वधं कृतवान्, षड्भिः बाणैः शल्यं, त्रिभिर्बाणैः छत्रं, ध्वजं, कार्मुकं तथा चैकेन शरेण कर्णस्य शिरः चिच्छेद तदा सम्पूर्णशराणां संख्या का?

---

१. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. ९६
२. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. १७

तृतीयम् —

**अलिकुलदलमूलं मालतीं यातमष्टौ**
**निखिलनवमभागाश्चालिनी भृङ्गमेकम्।**
**निशि परिमललुब्धं पद्ममध्ये निरुद्धं**
**प्रति रणति रणन्तं ब्रूहि कान्तेऽलिसंख्याम्।।**[1]

अर्थात् भ्रमरसमूहस्यार्धभागस्य वर्गमूलतुल्यभ्रमराः मालतीपुष्पं प्रतिगताः अष्टगुणितस्य नवमभागाः अर्थात् ८/९ भ्रमराः वनान्तरं गताः एकः भ्रमरः पद्मपरागेण लुब्धः पद्मकोशे एव निरुद्धः तस्य भ्रमरस्य प्रेयसी भ्रमरी रात्रौ तत्रैव पद्मस्योपरि गुञ्जन्ती आसीत् तदा भ्रमराणां संख्या का?

एवमेव क्षेत्रव्यवहारे भुजकोट्योरानयनप्रसङ्गे उदाहरणमेकं वर्त्तते—

**चक्रक्रौञ्चाकुलितसलिले क्वापि दृष्टं तडागे।**
**तोयादूर्ध्वं कमलकलिकाग्रं वितस्तिप्रमाणम्।**
**मन्दं मन्दं चलितमनिलेनाहतं हस्तयुग्मे**
**तस्मिन् मग्नं गणक! कथय क्षिप्रमम्भः प्रमाणम्।।**[2]

अर्थात् — चक्रक्रौञ्चादिपक्षिभिराकुलितसरोवरे जलस्तरात् वितस्तिप्रमाणं यावदूर्ध्वं कमलकलिकाग्रं दृष्टं, मन्दं मन्दं वायुवेगेन शनैः शनैः नम्रीभूय सा कमलकलिका हस्तद्वयान्तरे सलिले निमग्ना। हे गणक! तत्राम्भःप्रमाणं अर्थात् सरोवरस्य गाम्भीर्यं क्षिप्रं वद। एवमेवान्यान्यपि स्थलानि सन्ति यत्र भास्करस्य कवित्वं गणिते प्रावीण्यं च लक्ष्यते।

गणितातिरिक्तम् अन्यत्रापि भास्करस्य काव्यप्रियत्वं पदे-पदे दृश्यते यथा चन्द्रशृङ्गोन्नतिसाधने चन्द्रबिम्बस्वरूपं प्रदर्शयन् भास्करो वक्ति—

**तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डो**
**दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति।**
**तदितरदिशि बालाकुन्तलश्यामलश्रीर्घट**
**इव निजमूर्तिच्छाययैवातपस्थः।।**[3]

---

१. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. १७
२. लीलावती (कृष्णादास अ.) पृ. ६९
३. लीलावती (कृष्णादास अ.) पृ. १५२

अर्थाच् चन्द्रबिम्बस्य सूर्यसम्मुखो भागः सूर्यकरैः प्रकाशितो भवति सूर्यसापेक्षः चन्द्रस्य पृष्ठभागः अप्रकाशितः कृष्णश्च भवति। यथा बालायाः मुखं प्रकाशितं सुन्दरं तथा च मुखभागात् पृष्ठभागं कृष्णकुन्तलैरावृत्तं कृष्णं दृश्यते। तथैव आतपे स्थितस्य घटस्यापि सूर्यसम्मुखो भागः प्रकाशितोऽपरश्च घटच्छायया एव अप्रकाशितो दृश्यते। एवमेव चन्द्रबिम्बस्यापि सूर्यसम्मुखस्थो भागः प्रकाशितस्तथा अपरभ।गोऽप्रकाशितो भवति।

एवं बहूनि स्थलानि सन्ति यत्र आचार्यभास्करस्य काव्यसौष्ठवं दृश्यते। गोलाध्याये प्रसङ्गमुत्पाद्य स्वीयकवित्वपिपासायाः प्रशमनार्थम् आचार्येण ऋतुवर्णनमपि सिद्धान्तविषयाणां मध्ये सुष्ठु गुम्फितम् । तद्यथा—

**उत्फुल्लन्नवमल्लिकापरिमलभ्रान्तभ्रमद्भ्रामरे**

**रे पान्था! कथमव्यथानि भवतां चेतांसि चैत्रोत्सवे।**

**मन्दान्दोलितचूतनूतनघनस्फारस्फुरत्पल्लवै-**

**रुद्वेलन्नववल्लरीष्विति लपन्त्युच्चैः कलं कोकिलाः।।१**

**स्वकुसुमैर्मलिनामिव मालतीमवहसन्ति वसन्तजमल्लिकाः।**
**उपवनं विनिवारयतीव ताः किसलयैर्मलयानिलकम्पितैः।।२**
**विहाय सौधं तृणकुड्यमण्डपे प्रसिच्यमाने सलिलैः समन्ततः ।**
**शुचौ रमन्ते विरलं विलासिनः प्रियाजनैः सीकरसेचनोन्मुखाः।।३**
**निदाघदाहार्तिभिधातहेतवे वनाय कामोच्छ्रितचूतकेतवे ।**
**व्रजन्ति वापीजलकेलिलालसाः शुचौ रतिस्वेदगलज्जलालसाः।।४**
**मदनदहनखिन्नामागतेऽप्येत्य काले**
**परिमलबहलानां मालतीनां नदीनाम् ।**
**अदय दयित सिञ्चस्याऽऽत्मदृग्वारिणा किं**
**परिमलबहलानां मा लतीनां न दीनाम् ।।५**
**उच्चैर्विरौति हि मयूरकुलं यदम्ब मन्दं कदम्बमकरन्दविमिश्रितश्च।**
वातः प्रवाति पतिरेति न तेन मन्ये निर्घ्राणनिर्घृणविकर्णविहत्त्वमस्य।।६

**एवं विधं विरहिणी विरहेण खिन्ना भिन्नाञ्जनच्छविघने गगने घनतौं ।**
**मत्वा प्रियं तमदयं हृदयं प्रविष्टं ब्रूते सपेशलमलं परिहासमिश्रम् ।।७**

**स्वतनुजवनराज्या पुष्पवत्या श्लिषन्त्या**
**ह्यनुचितकृतसङ्गोऽस्मीति शैलोऽनुतप्तः ।**
**निशि शशिकरचञ्चन्निर्झरैरश्रुकल्पैः**
**शरदि हृदिजखेदस्वेदवान् रोदितीव ।।८**

**सहस्यकाले बहुशस्यशालिनीं चितामवश्यायकमौक्तिकोत्करैः ।**
**प्रहृष्टपुष्टाखिलगोकुलामिलां विलोक्य हृष्यन्त्यधिकं कृषीवला; ।।९**

**अरुणनीलनिमीलितपल्लवं प्रचुरफुल्लसमुल्लसनैः श्रियम् ।**
**वहति कांचन काञ्चनकाननं नवतरां नितरां शिशिरागमे ।।१०**

**अपटुतिग्मरीचिमरीचिभिर्न हि तथा शिशिरे शिशिरक्षतिः ।**
**निशि यथोष्मलपीनघनस्तनीभुजनिपीडनतः स्वपतां नृणाम् ।।११**

**ऋतुव्यावर्णनव्याजादीषदेषा प्रदर्शिता ।**
**कविता तद्विदां प्रीत्यै रसिकानां मनोहरा ।।१२**

अनेन ऋतुवर्णनेनेदं प्रतिभाति यत् आचार्यः महान् कविरासीत् परं काव्यरचनायाः अवसर एव तैर्न लब्धः। यतो हि तेषां समक्षं सततं गणितीयाः विषयाः एव सम्यक् समाधानार्थं समुपस्थिताः आसन्। अतः गणितीय विषयेष्वेव स्वकीय काव्यप्रतिभायाः प्रकाशस्तैः कृतः, येन काव्यस्य गणितस्य चाद्भुतं साहचर्यं भास्करस्य कृतिषु दृश्यते। गणितक्षेत्रेऽपि केचन नवीनाः सिद्धान्ता; तैः प्रतिपादिताः। सिद्धान्तेऽपि भुवः आकर्षणशक्तेः उदयान्तरस्य, ज्योत्पत्यादीनाञ्च नूतनाः आविष्काराः परिष्काराश्च तैः स्थापिताः। नूनं हि भास्कराचार्यः ज्योतिषजगति अद्यापि भास्करायमानस्तिष्ठति।



---

१. लीलावती (चौखम्बा विद्याभवन) पृ. १९६

२. सिद्धान्त शिरोमणि गो. अ. शृंगी १

३. सि. शि. गो. अ. ऋतु १-१२

# ज्यौतिष की वेदाङ्गता

किसी भी वस्तु के स्वरूप को जिन अवयवों या उपकरणों के माध्यम से जाना जाता है। उसे अङ्ग कहते हैं। 'अङ्ग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है— अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि'

शब्दशास्त्र, ज्यौतिष, निरुक्त, कल्प, शिक्षा तथा छन्द इन छः शास्त्रों द्वारा वेद का सम्यग् ज्ञान सम्भव होता है। अतः छः शास्त्रों को वेदाङ्ग कहा गया है। यद्यपि इन शास्त्रों को वेदांङ्ग सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ये स्वतः सिद्ध वेद के अङ्ग हैं, फिर भी कुछ ऐसे तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ जो ज्योतिष शास्त्र की वेदाङ्गता के स्वयं प्रमाण हैं।

प्राचीन काल से आज तक वेदों की जितनी प्रकार की व्याख्याएँ हुई हैं उनसे स्पष्ट होता है कि वेद को मुख्य दो धाराओं में अबतक जाना गया है। प्रथम धारा वेद की यज्ञपरक व्याख्या करती है। यज्ञ ही वेद का मुख्य प्रतिपाद्य है जैसा कि आचार्य लगध ने वेदाङ्ग ज्योतिष में लिखा है—

"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
काला हि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ।।[१]"

वेदों में यज्ञ के जो महत्व बतलाए गए हैं वे वेदविहित समय में ही करने पर फलीभूत होते हैं अन्यथा वे निष्फल या विपरीत फलदायक हो जाते हैं। श्रुति कहती है—

ते असुरा अयज्ञा अदक्षिणा अनक्षत्रा
यच्च किञ्चाकुर्वत तां कृत्यामेवाकुर्वत ।।

---

१. वेदाङ्गज्यौतिष

अर्थात् उपयुक्त नक्षत्र एवं उपयुक्त काल के अभाव में किया गया 'यज्ञ' कृत्या को समर्पित हो जाता है न कि देवताओं को। अत: यज्ञानुरूप काल का चयन यज्ञ से पूर्व आवश्यक होता है। प्राय: कार्यानुरूप काल का निर्देश भी स्थान-स्थान पर किया गया है। यथा— अग्न्याधान प्रसङ्ग में कहा गया है—

वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत"[१] इत्यादि।

इसी प्रकार दीक्षा ग्रहण करने हेतु काल का निर्देश हैं—

"एकाष्टम्यां दीक्षेरन्

फल्गुनी पूर्णमासे दीक्षेरन् ।।[२]

इससे स्पष्ट है कि यज्ञ से पूर्व के उपक्रम भी उचित काल में ही सम्पन्न होने चाहिए। आचार्यलगध ने पग-पग पर तिथि नक्षत्र, ऋतु एवं आयन आदि की आवश्यकता को देखते हुए काल का प्रतिपादन किया है। कालज्ञान को सर्वाधिक महत्व देते हुये आर्च ज्योतिष में काल की वन्दना की गई है।

प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मन: ।।[३]

ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मण आरण्यक तक ज्योतिष शास्त्र का विवेचन इस बात का परिचायक है कि यज्ञ के साथ-साथ ज्योतिष शास्त्र भी वेद का प्रतिपाद्य विषय है। अन्यथा संवत्सर से लेकर तिथि तक का उल्लेख वेदों में नहीं होता। इन्हीं आधारों पर ज्योतिष शास्त्र के प्रख्यात आचार्य भास्कर ने ज्योतिष शास्त्र के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है—

---

१. तै. ब्रा १।९

२. ताण्ड्य ब्राह्मण ५।९।१७, तै. सं. ७।४।८

३. आर्च ज्यौतिष (ऋग्वेद ज्योतिष)

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात् ।।[१]

इतना ही नहीं भास्कर ने वेद पुरूष के सभी अङ्गों का उल्लेख करते हुए ज्यौतिष शास्त्र को वेद का नेत्र बतलाया है।

शब्दशास्त्र वेद का मुख है, ज्यौतिषनेत्र, निरुक्त कर्ण, कल्प दोनों हस्त, शिक्षा नासिका, तथा छन्द वेद पुरूष के दोनों पैर हैं।[२]

इन अङ्गो में नेत्रों को विशेष महत्व दिया गया है इसी कारण ज्यौतिष शास्त्र को शीर्षस्थ माना गया है। ''तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां ज्यौतिषं मूर्घ्नि स्थितम् ।।'' वेदों की यज्ञपरक व्याख्या के अनुसार ज्यौतिष शास्त्र की वेदाङ्गता उक्त तथ्यों के आधार पर स्वयं सिद्ध है।

अब हम वेदों की व्याख्या की दूसरी धारा को लेते हैं जिसके अन्तर्गत हमारी जीवन पद्धति से जुड़ी हुई ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। इस धारा के अन्तर्गत सृष्टि प्रक्रिया से लेकर मानव जीवन पद्धति तक का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हम यहां केवल उन्हीं अंशों का उल्लेख करते हैं जिसका सीधा सम्बन्ध ज्यौतिष शास्त्र से है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए सूर्यसिद्धान्त कहता है—

वासुदेवः परं ब्रह्म तन्मूर्तिः पुरुषः परः
अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पञ्चविंशात् परोऽव्ययः।
प्रकृत्यन्तर्गतो देवः बहिरन्तश्च सर्वगः
संकर्षणोऽपः सृष्ट्यादौ तासु वीर्यमवासृजत्।।
तदण्डमभवद् हैमं सर्वत्र तमसावृतम्।
तत्रानिरुद्धः प्रथमं व्यक्तीभूतः सनातनः।।
हिरण्यगर्भो भगवानेष छन्दसि पठ्यते।।[३]

---

१. सि. शि० ९

२. शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी श्रोत्रमुक्तं निरुक्तञ्च कल्पः करौ।
यातु शिक्षाऽस्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः ।।
सि. शि. ९०

३. सू. सि. १२.१२-१४

इस प्रकार हिरण्यागर्भ भगवान ने अहंकार मूर्ति ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि का आरम्भ कराया। ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा और नेत्रों से तेज स्वरूप सूर्य की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है।

आचार्य भास्कर ने सांख्यमत को प्रतिपादित करते हुए कहा—

यस्मात् क्षुब्ध प्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भे
अहंकारोऽभूत खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च
ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद् विरञ्चे-
र्विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्म तत्तत्वमाद्यम्।।[१]

अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संघर्ष से महान् की उत्पत्ति हुई, महान से अहंकार तथा अहंकार से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि-जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

इन दोनों सिद्धान्तों का मूल वेद ही है। ऋक् संहिता का मन्त्र ऋतं च सत्यं चाभीद्धातपसोऽध्यजायत[२] इत्यादि। तैत्तरीय ब्राह्मण का मन्त्र "आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्।[३] इत्यादि तथा "नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम् नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्"[४] इत्यादि मन्त्र भी उसी सृष्टि प्रक्रिया को प्रतिपादित करते हैं।

इसी प्रकार पर्जन्य विद्या, सौरमण्डल, अन्तरिक्ष, भूगोल आदि का विस्तृत वर्णन तथा सूर्य चन्द्रमा की गति से सम्बन्धित तिथि एवं नक्षत्रों का विवेचन स्पष्ट रूप से ज्योतिषशास्त्र का ही प्रतिपाद्य है। वेदों में इनका महत्वपूर्ण स्थान ज्योतिषशास्त्र की महत्ता को व्यक्त करने के साथ-साथ वेद के

---

१. सि. शि. गो.

२. ऋ. स. १०।१९०

३. तै. ब्रा. १।१।३

४. तै. ब्रा. २।८।९

साथ अभिन्नता का भी परिचायक है। वैदिक काल में ही समस्त आकाशीय पिण्डों की पारस्परिक भिन्नता ज्ञात थी। भूमि पर स्थित प्राणी आकाश में प्रकाशमान पिण्डों को एक समान ही देखता है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। समस्त प्रकाशमान पिण्डों में कुछ स्वयं प्रकाशित हैं तथा कुछ सूर्य से प्रकाशित हैं। स्वयं प्रकाशमान पिण्ड तारा एवं नक्षत्र वाचक हैं तथा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित पिण्ड ग्रह एवं उपग्रह संज्ञक हैं। तारों में भी चन्द्र पथ या सौर पथ में आने वाले, तारे नक्षत्र संज्ञक है तथा उनसे भिन्न स्थिति में रहने वाले तारे 'तारा' संज्ञक हैं। वेदों में तारक मण्डल या तारा को 'ऋक्ष' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

''अमीय ऋक्षा निहिता स उच्चा''

सदैव उत्तर दिशा में दिखाई देने वाले सात तारों के समूह को ऋक्ष मण्डल कहा गया है जिसे हम सप्तर्षि मण्डल कहते हैं। ऋक्ष शब्द का अर्थ 'भालू' होता है सम्भवत: ऋक्ष शब्द का 'भालू' अर्थ लेकर ही पाश्चात्यों ने बृहद सप्तर्षि मण्डल को Great bear तथा लघु सप्तर्षि मण्डल को Small bear नाम से सम्बोधित किया है। वर्तमान समय में भी ज्योतिषशास्त्र में ऋक्ष शब्द नक्षत्रों के लिए प्रयुक्त हो रहा है।

लघु सप्तर्षि मण्डल को पुराणों में शिंशुमार कहा गया है। शिंशुमार के पुच्छ में स्थित तारा 'ध्रुव' संज्ञक है। किन्तु यह स्थिर नहीं है। ध्रुव के सन्दर्भ में वैज्ञानिक भी लम्बे समय तक भ्रम में थे वे भी इसे स्थिर समझते थे। किन्तु पुराणों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

योऽसौ चतुर्दिशं पुच्छे शिंशुमारे व्यवस्थित:।
उत्तानपादपुत्रो ऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि।
स हि भ्रमन् भ्रामयते चन्द्रादित्यै: ग्रहै: सह।
भ्रमन्तमुपगच्छन्ति नक्षत्राणि च चक्रवत्।।[१]

---

१. वायुपुराण ९।५।६-७

अर्थात् ध्रुव तारा शिंशुमार चक्र समस्त ग्रहमण्डल को भ्रमण कराता हुआ स्वयं भी भ्रमण करता है। प्रख्यात दैवज्ञ कमलाकर भट्टने भी कठोर शब्दों में कहा है—

ध्रुवतारां स्थिरां ग्रन्थे मन्यन्ते ते कुबुद्धय: ।।[१]

नक्षत्रों के सम्बन्ध में भी वेद और ज्योतिष में अभेद सम्बन्ध है। आज भी नक्षत्रों के वही नाम प्रचलित है जो वैदिक काल में थे। अन्तर इतना ही है कि वैदिक काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से, वेदाङ्गज्योतिष काल में धनिष्ठा से तथा आज अश्विनी से गणना प्रारम्भ होती है। दूसरा अन्तर यह है कि वेदों में क्रम से नक्षत्रों के नाम नहीं दिए गए हैं। संकेताक्षर द्वारा सभी नक्षत्रों का उल्लेख है। यथा—

जौ द्राघ: खेश्वेहीरोषाचिन्मूषण्य: इत्यादि

यहां जौ अर्थात् अश्वयुजौ (अश्विनी), द्रा= आर्द्रा इसी प्रकार नक्षत्रों का नाम ज्ञात हो पाता है। कहीं-कहीं तिष्य -भग- फल्गुनी नामों से भी व्यक्त किया गया है।

न केवल क्रान्तिवृत्त का सम्यग् ज्ञान उपलब्ध होता है अपितु नाडी वृत्तीय कालज्ञान भी पूर्णरूपेण व्यवहार में था। यद्यपि काल का विवेचन सभी वेदों में है। किन्तु अथर्ववेद में काल के सूक्ष्मतम अंश का उल्लेख है। अथर्व ज्यौतिष से ज्ञात होता है कि उस समय वर्ष मान ३६६ दिनों का माना गया था, तथा मासों के नाम दो प्रकार से प्रचलित थे। कहीं-कहीं पर "मधुश्च माधवश्चैव शुक्रश्च शुचि रेव च" इत्यादि क्रमानुसार चैत्रादि मासों के नाम कहे गए हैं जो अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार में थे। दूसरी विधि का उल्लेख तैत्तरीय ब्राह्मण में इस प्रकार है—

१. अरुण (चैत्र)
२. अरुणज (वैशाख)
३. पुण्डरीक (ज्येष्ठ)
४. विश्वजित् (आषाढ़)

१. सिद्धान्त तत्त्वविवेक

| | |
|---|---|
| ५. अभिजित् (श्रावण) | ९. रसवान् (मार्गशीर्ष) |
| ६. आर्द्र (भाद्रपद) | १०. इरावान (पौष) |
| ७. पिन्वमान (आश्विन) | ११. सर्वोषध (फाल्गुन) |
| ८. अन्तवान (कार्तिक) | १२. सम्भर (फाल्गुन) |

इतना ही नहीं काल के सूक्ष्म निरूपण प्रसङ्ग में एक सेकेण्ड से भी छोटी इकाइयों की भी कल्पना वैदिक साहित्य में उपलब्ध है जो वैदिक काल के गहन अनुसन्धान की ओर इंगित करती है। आधुनिक कालमान घण्टा मिनिट-सेकेण्ड के साथ तुलनात्मक मान निम्नलिखित सारणि से स्पष्ट है। अथर्ववेद में सबसे छोटी कालमान की इकाई निमेष है जिसे सेकेण्ड में परिवर्तन करने से ०.००८ सेकेण्ड के तुल्य होता है। शेष इस प्रकार—

| **वैदिक कालमान** | | **वर्तमान कालमान** |
|---|---|---|
| १२ निमेष = १ लव | = | ०.१०६ सेकेण्ड |
| ३० लव = १ कला | = | ३.२ सेकेण्ड |
| ३० कला = १ त्रुटि | = | १.६ मिनिट |
| ३० त्रुटि = १ मुहूर्त्त | = | ४८ मिनिट |
| ३० मुहूर्त्त = १ अहोरात्र | = | २४ घण्टा |

इस प्रकार की सूक्ष्म कालगणना का इतिहास किसी भी प्राचीन संस्कृति के इतिहास में दृष्टिगत नहीं हुआ है। जब हम गणितीय दृष्टि से विचार करते हैं तो आज की विवादास्पद स्थिति भी सुलझ जाती है। आधुनिक इतिहासकारों का अनुमान है कि रेखागणित का उद्भव भारत में नहीं हुआ है। यह सिद्धान्त मिस्र से भारत आया है किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है। आपस्तम्ब और बौधायन शुल्बसूत्र इसके साक्षी हैं। शुल्ब का अर्थ रज्जु होता है। रज्जु रेखा की प्रतीक है। रस्सी से ही मापकर वेदी और यज्ञ कुण्डों हेतु क्षेत्र विन्यास किया

जाता था। यज्ञवेदी और कुण्डों के आकार, चतुर्भुज, वृत्त एवं त्रिकोण आदि विभिन्न स्वरूपों में होते हैं। इनकी निर्माण विधि का विस्तृत विवेचन स्पष्ट रूप से रेखागणित के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करते हैं। आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र के प्रथम पटलके ३ अध्यायों में शुद्ध रूप से रेखागणित का ही प्रतिपादन है। इनमें वृत्त और उनके परिधि-व्यास आदि अवयवों एवं उनके परस्पर सम्बन्धों का भी उल्लेख है। अत: रेखागणित का भी मूल वेद में होने से इसकी भी भारतीयता सिद्ध हो जाती है।

रेखागणित के अत्यन्त समीपवर्ती छाया गणित है, जिसके अन्तर्गत छाया से समय ज्ञान की प्रक्रिया प्रतिपादित है। वस्तुत: यह सिद्धान्त वेध प्रक्रिया का प्रथम चरण है जो वैदिक काल में ही आरम्भ हो गया था। दिन में १५ मुहूर्तों की कल्पना उस समय भी प्रचलित थी किन्तु उस समय के मुहूर्तों के नाम भिन्न थे। उन मुहूर्तों का ज्ञान छाया वेध द्वारा होता था। १२ अंगुल शंकु की छाया द्वारा मुहूर्तों का निर्धारण होता था। मूलत: मुहूर्तों की संख्या ८ है। आठवां अभिजित् मुहूर्त स्थिर होता है शेष रौद्र आदि सात मुहूर्त सूर्योदय से क्रमानुसार आरम्भ होकर अभिजित पर्यन्त जाते हैं। पुन: अभिजित के बाद उत्क्रम से सूर्यास्त के समय रौद्र तक जाते हैं। छाया के ह्रास एवं वृद्धि के अनुसार मुहूर्तों का निर्धारण होता है। जो निम्नलिखित सारिणि से स्पष्ट है—

| **छायामान** | | **मुहूर्त** | **संख्या** |
|---|---|---|---|
| ∞ — ९६ | अंगुल तक | रौद्र | (१) |
| ९६ — ६० | ” ” | श्वेत | (२) |
| ६० — १२ | ” ” | मैत्र | (३) |
| १२ — ६ | ” ” | सारभट | (४) |
| ६ — ५ | ” ” | सावित्र | (५) |
| ५ — ४ | ” ” | वैराज | (६) |
| ४ — ३ | ” ” | विश्वावसु | (७) |
| स्थिर ३ — ३ | ” ” | अभिजित् | (८) |
| ३ — ४ | ” ” | विश्वावसु | (९) |
| ४ — ५ | ” ” | वैराज | (१०) |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ — ६ | ,, ,, | सावित्र | (११) |
| ६ — १२ | ,, ,, | सारभट | (१२) |
| १२ — ६० | ,, ,, | मैत्र | (१३) |
| ६० — ९६ | ,, ,, | श्वेत | (१४) |
| ९६ — ∞ | ,, ,, | रौद्र | (१५) |

इसी प्रकार रात्रि में भी पन्द्रह मुहूर्त होते है किन्तु उनका साधन कठिनाई से होगा।

इनके अतिरिक्त " पर्जन्य विद्या ", जिसका विवेचन ज्यौतिष शास्त्र के संहिता स्कन्ध में किया गया है, का विभिन्न प्रकार का उल्लेख है। इन्द्र और वृत्त की कथा पूर्णरूप से पर्जन्य विद्या का ही प्रतिपादन करती है। श्री लोकमान्य तिलक ने 'इन्द्र' को सूर्य तथा वृत्त को हिम का प्रतीक माना है। इन्द्र और वृत्त के युद्ध को तिलक ने ध्रुव प्रदेशीय विप्लव बतलाया है। यास्क ने भी वृत्त को मेघ मानकर ही व्याख्या की है। वैदिक देवताओं में सूर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। सूर्य ही ज्यौतिष शास्त्र के नियामक देवता है। सूर्य की सुषुम्ना रश्मि का सोम से प्रगाढ़ सम्बन्ध बतलाया है। सोमलता चन्द्रमा की कला के अनुसार बढ़ती है तथा कला के अनुसार घटती है। इसका यह भी अभिप्राय है कि सूर्य की सुषुम्ना नामक रश्मि चन्द्रमा को तथा सोमलता दोनों को ही विकसित करती है। सूर्य की प्रमुख सात रश्मियाँ भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त है। एक-एक रश्मि एक-एक ग्रह को प्रभावित करती है। यथा—

सूर्य की सुषुम्ना नामक रश्मि चन्द्रमा को

| | |
|---|---|
| हरिकेश ,, ,, | नक्षत्रों को |
| विश्वकर्मा ,, ,, | बुध ,, |
| विश्वव्यचा ,, ,, | शुक्र ,, |
| संयद्वसु ,, ,, | भौम ,, |
| अर्वावसु ,, ,, | गुरू ,, |
| स्वराट् ,, ,, | शनि को प्रभावित करती हैं। |

इन्ही सात रश्मियों के कारण सूर्य को सप्त रश्मि कहा जाता है। इन्हीं रश्मियों का

विश्लेषण कर आधुनिक वैज्ञानिकों ने इनके रंगों के आधार पर BIVGYOR (Blue, Indigo, Voilet, Green, Yellow, Orange and Red) नाम से विभक्त किया है। यह स्थूल विवेचन है। सूक्ष्म विवेचन में सूर्य की संज्ञा सहस्र-रश्मि हो जाती है। सूर्य की प्रत्येक रश्मियों में उक्त सात रश्मियाँ होती है। तथा प्रत्येक रश्मियों में सहस्र उप रश्मियाँ होती है। प्रत्येक रश्मि के गुण एवं कार्य भिन्न-भिन्न होते है।

इन सभी आधारों को देखते हुए तथा ज्यौतिष शास्त्र के ऐतिहासिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इसे वेद से भिन्न मानने के लिए स्थान ही नहीं रहता। अत: ज्यौतिष शास्त्र की सर्वाङ्गीण वेदाङ्गता स्वत: सिद्ध हो जाती है। इसके लिए स्वयं वेद ही प्रमाण हैं। प्रमाणान्तर की आवश्यकता ही नहीं है। आचार्य भास्कर की उक्ति "वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात्" सर्वथा सिद्ध है।



# काल की अवधारणा

काल अनन्त और अनादि होने के कारण अनिर्वचनीय है। इसे किसी एक परिभाषा में आबद्ध कर देना अत्यन्त सरल नहीं है। पुराणों में काल को सृष्टिकर्त्ता तथा संहर्त्ता दोनों ही माना गया है। ''कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।'' कहीं-कहीं काल को अन्तकृत या संहर्त्ता ही कहा गया है यथा —कालो जगद्भक्षकः। कुछ सूक्तियाँ भी इसी को व्यक्त करती हैं—''कालो न यातो वयमेव याता।'' भगवान भास्कर ने भी काल का निरूपण करते हुये कहा है—

लोकानामन्तकृत कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।

स द्विधा स्थूल सूक्ष्मत्वान् मूर्त्तश्चामूर्त्त उच्यते।।

(सूर्यसिद्धान्तः १.१०)

यहाँ भी काल के दो भेद बताये गये हैं तथा एक भेद को अन्तकृत् लोक का नाश करने वाला तथा दूसरे भेद को कलनात्मक कहा गया है। कलनात्मक काल भी मूर्त्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार का है। जो व्यवहार योग्य काल है उसे स्थूल अथवा मूर्त्त कहते हैं। तथा जो व्यवहार योग्य नहीं हैं उसे सूक्ष्म और अमूर्त्त कहते हैं। यदि इन दोनों भेदों को गणितीय आधार पर देखें तो ये दोनों भेद दो अवस्थाओं के भेद है न कि काल भेद। ये भेद काल की दो भिन्न अवस्थाओं को व्यक्त करते हैं। मूलतः दोनों ही कलानात्मककाल हैं। कोई भी सृष्टि किसी न किसी कालखण्ड में होती है। जिसकी सृष्टि होती है उसका लय भी होता है। इस शाश्वत सिद्धान्त के अनुसार उस सृष्टि के आरम्भ से उसके लय पर्यन्त की कालावधि भी काल की एक मापक ईकाई होती है। इस इकाई का अवसान लय के साथ होता है इसलिए इसे अन्तकृत् काल कहा जाता है। इसी प्रकार जो इकाई सृष्ट्यारम्भ काल से सृष्ट्यन्त काल के मध्यगत कालावधि की गणना करती हैं उन सूक्ष्म और स्थूल इकाइयों को कलनात्मक

काल कहा गया है। चूँकि इसी कालावधि में सूक्ष्म और स्थूल इकाइयों का उपयोग होता है। अतः इसी कलनात्मक काल के दो भेद मूर्त्त और अमूर्त्त संज्ञक कहे गये हैं। गणितीय दृष्टि से सृष्टि एक प्रक्रिया हैं सृष्ट्यन्त या प्रलय एक कालावधि या काल की एक इकाई है जिसे हम कल्प कहते हैं। कल्पान्त में ब्रह्मा समस्त सृष्टि को समेट कर विश्राम करते हैं। कल्प ब्रह्म का एकदिन होता तथा एक कल्प तुल्य उनकी रात्रि होती है। पुनः ब्रह्मा का दिवसारम्भ होता है, उसी के साथ-साथ सृष्ट्यारम्भ भी होता है। सृष्टि क्रम पूर्ववत ही रहता है। जैसा कि श्रुति कहती है— "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत।" सृष्टि की रचना में ब्रह्मा को ४७४०० दिव्यवर्ष का समय लगता है। ["कृताद्रिवेदा दिव्याब्दा शतघ्नो वेधसो गताः]। अतः सृष्ट्यन्त और कल्पान्त दोनों ही काल की एक महत्तम इकाई के पर्याय है। इसी प्रकार स्थूल काल की लघुतम इकाई 'प्राण' तथा सूक्ष्म काल की लघु इकाई त्रुटि कही गई है।

गणना हेतु ज्योतिषशास्त्र में काल के नवभेद बताये गये हैं। जो इस प्रकार हैं—

ब्राह्मं दिव्यं तथा पैत्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।

सौरञ्च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव।। सू. सि. १४.१

अर्थात् १. ब्राह्म, २. दिव्य ३. पैत्र्य, ४. प्राजापत्य, ५. गौरव, (गुरु सम्बन्धी) ६. सौर, ७. सावन ८. चान्द्र तथा ९. नाक्षत्र ये नव मान कहे गये हैं। यद्यपि ये मान कालभेद के रूप में कहे गये हैं। किन्तु ये सभी मान मात्र मापक हैं। इन्हें कालमापक इकाइयों का भेद मानना चाहिये। जैसे किसी दीवार को मापने के लिए हम अंगुल और हस्त का भी प्रयोग कर सकते हैं। इञ्च और फुट का अथवा सेन्टीमीटर और मीटर का भी प्रयोग कर सकते हैं। माप्य दीवार एक ही है तथा मापक उपकरण भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार काल एक ही अनादि-अनन्त है। उसे मापने के लिए हम कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी बृहस्पति आदि का उपयोग करते हैं। आचार्य भास्कर ने भी सिद्धान्त लक्षण में कहा है— त्र्युट्यादि प्रलयान्तकालकलना मानः प्रभेदः क्रमात्" त्रुटि से आरम्भ कर प्रलयान्त काल तक काल गणना तथा उनके मानों अर्थात् मापकों के भेदों का विवेचन सिद्धान्त मे किया जाता है।

काल की गति के विषय में मतान्तर मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि काल सीधी रेखा में गतिशील रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि काल भी चक्र भ्रमण करता है। इसीलिए इसे कालचक्र भी कहा जाता है। नेपाल और तिब्बत में "कालचक्रज्योतिष" नाम से ज्योतिष की एक प्रमुख विधा है। साहित्यकारों ने काल के चक्र भ्रमण को इंगित करते हुये लिखा है—

"चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।"

आजकल भी एक प्रसिद्ध उक्ति है "इतिहास सदैव अपने आप को दुहराता है।" ये मात्र सूक्तियाँ ही नहीं है। इनके मूल में कुछ महत्वपूर्ण अनुभव भी होते हैं।

आचार्य पराशर ने भी दशाओं के वर्णन में एक कालचक्र दशा का उल्लेख किया है।

यदि हम ब्रह्माण्ड के स्वरूप पर ध्यान दें तो समस्त ब्रह्माण्ड ही चक्रभ्रमण करता हुआ प्रतीत होगा। यदि ब्रह्माण्ड के शब्दार्थ को लिया जाय तो अनेक गुत्थियाँ स्वतः ही सुलझ जाती है। ब्रह्म+अण्ड, अर्थात् ब्रह्म द्वारा निर्मित अण्ड जिसमें समस्त सौर मण्डल एवं नक्षत्रादि है। तथा उसकी परिधि अण्डाकार (दीर्घ वृत्तानुकारी) है। इसी अण्डाकार परिधि के अन्दर ग्रहादिकों की दीर्घवृत्ताकार कक्षायें है तथा इसी अण्डाकार परिधिमें कालचक्र भी भ्रमण करता है। ऐसी स्थिति में काल की गति एक सीधी रेखा में मानना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। आकाश मण्डल में स्थित इकाइयों के चक्रभ्रमण को भगवान् व्यास ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है।

उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि
स हि भ्रमन् भ्रामयते नित्यं चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह।।

अर्थात् ध्रुव शिंशुमार चक्र में अवस्थित रहते हुये सूर्य-चन्द्र सहित समस्त नक्षत्रचक्र को घुमाता हुआ स्वयं भी घूमता है। आज का विज्ञान भी

स्वीकार करता है कि आकाशस्थ सभी पिण्ड भ्रमण कर रहे हैं। जहाँ तक सीधी रेखा में गतिशील होने का प्रश्न है वह किसी नियत काल या नियत दूरी तक तो सम्भव है अनन्तकाल और अनन्त दूरी तक सम्भव नहीं है। पृथ्वी को भी हम सीधी रेखा में देखते हैं। जब कि हम जानते हैं पृथ्वी गोल है। परन्तु हम पृथ्वी के गोलत्व को नहीं देख पाते। हम कही भी जायेगे पृथ्वी हमे समान सीधी, समतल सरल रेखा में ही दिखलाई पड़ेगी। इस रहस्य को गणित का यह सिद्धान्त सुलझाता है— "परिधेः षण्नवत्यंशो दण्डवत् परिदृश्यते।" अर्थात् परिधि का ९६वाँ भाग दण्डवत (दण्ड के समान) सीधी रेखा में दिखाई पड़ता है। हमारी दृष्टि ९६वें भाग से भी बहुत न्यून भाग को देख पाती हैं। इसी लिए पृथ्वी हमे सीधी सरल रेखा में दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार काल का भी कुछ दूरी तक एक सीधी रेखा में जाते हुये प्रतीत होना स्वाभाविक है।

मनुष्य की भी एक सीमा है उससे अधिक वह तो न जा सकता है न देख सकता है। पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर जाने पर पृथ्वी का स्वरूप दिव्य नेत्रों से अथवा सक्षम उपकरणों से देखा जा सकता है, किन्तु अपने चर्म चक्षुओं से वायुमण्डल की सीमा पर भी जाकर हम कुछ नही देख सकते। क्योंकि जाते ही घोर अन्ध तमस ही दिखाई देगा। जैसा कि सीता के अन्वेषण के समय अपनी गति से सीमान्त तक जाकर जामवन्त जी ने देखा और सुग्रीव को बताया—

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुंगवा।

अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्।। वा. रा. 4.40.68

इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाण एवं गणितीय आधार पर हम कह सकते हैं कि काल का भी चक्रभ्रमण होता है, किन्तु इसकी अवधि निर्धारित करना दुष्कर है।

कालमापन हेतु जिन नव मानों का उल्लेख किया गया है उनमें से चार कालमान हमारी दिनचर्या से जुड़े हुये हैं। वे हैं सौर-चन्द्र-सावन और नाक्षत्र।

जब हमे मास से अधिक काल की गणना करनी होती है तब हम सौर मान का प्रयोग करते हैं। सूर्य एकमास तक एक राशि में रहता है। १२ राशियों में भ्रमण करने में १२ मास अर्थात् एक वर्ष लगता है। मास की गणना हम चन्द्रमास करते है। अमान्त से अमान्त तक अथवा पूर्णिमा से पूर्णिमा तक एक चान्द्रमास होता है। दिन की गणना हम पृथ्वी के दिन अथवा सावन दिन से करते हैं। दो सूर्योदय के मध्य का काल सावन दिन या पृथ्वी का दिन होता है। एक नक्षत्र के उदय काल से द्वितीय उदय काल तक नाक्षत्र काल होता है। इस काल की अवधि सुनिश्चित है। ६० घटी (ठीक २४ घण्टे) बाद यह परिभ्रमण कर पुन: उसी विन्दु पर आ जाता है। इसलिए नाक्षत्र दिन का मान सदैव एक समान २४ घण्टे या ६० घटी का ही होता है। इसी स्थिर काल के आधार पर घण्टा मिनट का विचार किया जाता है या घटी पल आदि लघु काल खण्डों का विभाजन या गणना की जाती है। इस काल विभाजन व्यवस्था को आचार्य भास्कर ने अपनी प्रसिद्ध रचना सिद्धान्त शिरोमणि में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है—

वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्र सौरान्
मासांस्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात्।
यत्कृच्छ्रसूतकचिकित्सितवासाराद्यम्
तत् सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात् ।। (सि. शि. म. अ.क)

घट्यादि लघुकालखण्डों की गणना नाक्षत्र मान के अतिरिक्त अन्य सौरादि मानों से सम्भव नहीं हैं, उन मानों के प्रतिदिन न्यूनाधिक होने के कारण। नाक्षत्र काल में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि इसका मान ६० घटी या २४ घण्टे का प्रतिदिन होता है। घटी यन्त्र (घड़ी) द्वारा सूचित काल नाक्षत्र काल ही होता है, प्रतिदिन समान रूप होने के कारण। इस प्रकार आवश्यकतानुसार विभिन्न कालमानों का उपयोग होता रहा है तथा आज भी हो रहा है। दैनिक उपयोग में आने वाले कालमानों का विवरण इस प्रकार है—

## काल के अवयव

| अमूर्त काल (सूक्ष्म) | मूर्त काल (स्थूल) |
|---|---|
| पद्मपत्र भेदनकाल =१ त्रुटि | ६ विपल = १ प्राण |
| ६० त्रुटि = १रेणु | ६० विपल = १ पल |
| ६० रेणु = १ लव | ६० पल = १ घटी |
| ६० लव = १ लीक्षक | ६० घटी = १ अहोरात्र |
| | ३० अहोरात्र= १ मास |
| ६० लीक्षक = १ प्राण | १२ मास = १ वर्ष |

**घण्टा-मिनट और घटी-पल**

२४ सेकेण्ड = ६० विपल = १ पल

२४ मिनट = ६० पल = १ घटी

२४ घण्टा = ६० घटी = १ अहोरात्र

काल की बड़ी इकाई

कृतयुग = १७२८०००

त्रेतायुग = १२९६०००

द्वापरयुग = ८६४००० सौरवर्ष

कलियुग = ४३२००० सौरवर्ष

महायुग = ४३२०००० सौरवर्ष

मनु = ३०६७२०००० सौरवर्ष

कल्प = ४३२००००००० सौरवर्ष = ब्राह्म दिन

ब्राह्म अहोरात्र = ८६४००००००० सौरवर्ष

काल की इन बड़ी इकाइयों की गणना सौरमान से ही की गई है। इनके अतिरिक्त सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है—

सौरेण द्युनिशोर्मानम् षडशीतिमुखानि च।

अयनं विषुवच्चैवं संक्रान्तेः पुण्यकालताम्। १४.३

अर्थात् सौर अहोरात्रों के साथ-साथ षडशीतिमुख संक्रान्तियों के दिनों, अयनों एवं विषुवदिनों तथा संक्रान्तियों के पुण्य कालों का निर्णय भी सौरमान से ही करना चाहिये।

मकर राशि में सूर्य के प्रवेश करने पर उत्तर अयन तथा कर्क राशि में प्रवेश करने (कर्क संक्रान्ति से) से दक्षिण अयन की प्रवृत्ति होती है। मेष और तुला में सूर्य जिस दिन प्रवेश करता है उसे विषुव दिन कहते हैं। वस्तुतः सायन मेष और सायन तुला में सूर्य के रहने पर विषुव दिन होता है। विषुव दिनों में दिन रात्रि का मान बराबर होता है। षडशीति का अभिप्राय है- तुला संक्रान्ति से आरम्भ कर ८६ दिनों की अवधि षडशीति मुखमान। तुलाराशि से आरम्भ कर ८६ अंशो के अन्तराल पर चार षडशीति मान होते हैं। ३४४ दिनों में चारों षडशीति मान पूर्ण होते हैं। वर्षमान ३६० दिन में ३४४ दिन षडशीति के अतिरिक्त शेष १६ दिन कन्याराशि के अवशिष्ट रह जाते हैं।

इनका विभाजन इस प्रकार है—

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम षडशीति | तुला | ३०° | ८६° |
| | वृश्चिक | ३०° | |
| | धनु | २६° | |
| द्वितीय | धनु | ४° | ८६° |
| | मकर | ३०° | |
| | कुम्भ | ३०° | |
| | मीन | २२° | |

| | | | |
|---|---|---|---|
| तृतीय | मीन | ८° | ८६° |
| | मेष | ३०° | |
| | वृष | ३०° | |
| | मिथुन | १८° | |
| चतुर्थ | मिथुन | १२° | ८६° |
| | कर्क | ३०° | |
| | सिंह | ३०° | |
| | कन्या | १४° | |

कन्या का शेष १६° = १६ दिन

अर्थात् ये १६ दिन श्राद्ध के लिए उपयुक्त होते हैं। इस अवधि में की गई पितृ क्रिया अक्षय पुण्य देने वाली होती है। सूर्य सिद्धान्त में इन १६ दिनों को यज्ञतुल्य काल कहा गया है

ततश्शेषे तु कन्याया यान्यहानि तु षोडश।
क्रतुभिस्तानि तुल्यानि पितृणां दत्तमक्षयम्।। सू. सिं. १४.६

ये सभी व्यावहारिक काल हैं। इनका उपयोग निरन्तर होता रहता है। इनके अतिरिक्त गौरव मान (गुरु से सम्बन्धित) भी प्रयोग में आता है। इसका अधिक विवेचन नहीं मिलता है केवल इतना ही कहा गया है कि बृहस्पति के मध्यम मान से राशि के भोग काल को एक संवत्सर कहते हैं। संवत्सर साठ होते हैं जिनकी गणना प्राचीन काल में विजयादि क्रम से होती थी जैसा कि सूर्य सिद्धान्त कहता है—

द्वादशघ्ना गुरोर्याता भगणा वर्तमानकैः।
राशिभिः सहिताः शुद्धाः षष्ट्या स्युर्विजयादयः।।

(सू. सि. १.५५)

किन्तु आज व्यवहार में प्रभवादि साठसंवत्सर हैं। उनके तीन विभाग किये गये हैं। १. ब्रह्म विंशतिका २०, २. विष्णु विंशतिका २० तथा ३. रुद्रविंशतिका २०। साठ संवत्सरों के नाम निम्नलिखित हैं।

| ब्रह्मविंशतिका | विष्णुविंशतिका | रुद्रविंशतिका |
|---|---|---|
| १. प्रभव | २१. सर्वजित् | ४१. प्लवङ्ग |
| २. विभव | २२. सर्वधारी | ४२. कीलक |
| ३. शुक्ल | २३. विरोधी | ४३. सौम्य |
| ४. प्रमोद | २४. विकृति | ४४. साधारण |
| ५. प्रजापति | २५. खर | ४५. विरोधकृत् |
| ६. अङ्गिरा | २६. नन्दन | ४६. परिधावी |
| ७. श्रीमुख | २७. विजय | ४५. प्रमादी |
| ८. भाव | २८. जय | ४८. आनन्द |
| ९. युवा | २९. मन्मथ | ४९. राक्षस |
| १०. धाता | ३०. दुर्मुख | ५०. नल |
| ११. ईश्वर | ३१. हेमलम्बी | ५१. पिङ्गल |
| १२. बहुधान्य | ३२. विलम्बी | ५२. कालयुक्त |
| १३. प्रभावी | ३३. विकारी | ५३. सिद्धार्थी |
| १४. विक्रम | ३४. शर्वरी | ५४. रौद्र |
| १५. वृष | ३५. प्लव | ५५. दुर्मति |
| १६. चित्र भानु | ३६. शुभकृत् | ५६. दुन्दुभि |
| १७. सुभानु | ३७. शोभकृत् | ५७. रुधिरोद्गारी |
| १८. तारण | ३८. क्रोधी | ५८. रक्ताक्षी |
| १९. पार्थिव | ३९. विश्वावसु | ५९. क्रोधन |
| २०. व्यय | ४०. पराभव | ६०. क्षय |

इन संवत्सरों की अवधि ११ मास से १३ मास तक की होती है। भारतीय परम्परा में काल अनन्त है उसकी परिभाषायें तथा इकाइयाँ भी अनन्त हैं। यहाँ केवल दैनिक जीवन में व्यवहृत कालमानों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

विभिन्न कालमानों का सुव्यवस्थित और प्रामाणिक विवेचन भारतीय (वैदिक) वाङ्मय में उपलब्ध है। इतना विस्तृत विवरण अन्यत्र दुर्लभ है। पाश्चात्य कालगणना पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात हो जायेगा कि १७ वीं शताब्दी तक कालगणना की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं बन पाई थी। ६७३ ई.

पूर्व तक रोमन पञ्चाङ्गो में वर्ष मान ३०४ दिन ही माने जाते थे। १० मासों का वर्ष होता था वर्षारम्भ मार्च से तथा वर्षान्त २५ दिसम्बर को होता था। शीतकाल के २ मासों की गणना नहीं होती थी। ईसा पूर्व ६७३ में नूमा पोम्पिलियस (Numa Pompilius) ने ५१ दिनों (२ मासों) को जोड़कर वर्षमान ३५५ दिन का बनाया तथा जैनस देवता के नाम पर जनवरी तथा फरवरी जोड़कर वर्षारम्भ जनवरी से आरम्भ किया। आवश्यकतानुसार वर्षमान में कुछ वर्षों के अन्तराल पर २२-२३ दिनों को जोड़कर शुद्ध किया जाता था। ईसा पूर्व ४४ ई. में जूलियस सीजर ने मिस्री ज्योतिषी सोसिजेन्स (Sasigenes) के सुझाव पर वर्षमान को ३६५.२५ दिनों का घोषित किया। ४४ ईसा पूर्व जूलियस सीजर के सम्मान में मार्च से पाँचवे मास क्विन्टिलिस (Quintilis) को जुलाई कर दिया गया। पुन: ८ ईसापूर्व में जुलियस सीजर के उत्तराधिकारी आगस्टस सीजर के नाम पर सेक्स्टिलिस मास का नाम अगस्त कर दिया गया। दोनों राजाओं के सम्मान में जुलाई और अगस्त दोनों मासों की दिन संख्या ३१-३१ दिन कर दी गई तथा दिन का सन्तुलन बनाये रखने के लिये फरवरी से २ दिन घटा दिये गये।

इसी प्रकार ग्रीगोरियन पञ्चाङ्ग में परिष्कार किये गये। सन् १५८२ ई. में पोप ग्रिगोरी त्रयोदश ने आदेश पारित किया कि ५ अक्टूबर शुक्रवार को १५ अक्टूबर शुक्रवार माना जाय। लगभग २०० वर्ष बाद पुन: ११ दिनों की त्रुटि पाई गई अत: उसे दूर करने के लिए सन् १७५२ ई. में ३ सितम्बर को १४ सितम्बर घोषित किया गया।[1] भविष्य में भी संशोधन सम्भव है। अत: भारतीय कालगणना पद्धति ही पूर्णशुद्ध एवं वैज्ञानिक है।



१. पञ्चाङ्गसुधार समिति का प्रतिवदेन पृ. २८६-२९५।

# वैदिक वाङ्मय में विज्ञान के विविध पक्ष

समस्त वैदिक वाङ्मय ज्ञान एवं विज्ञान का ही प्रतिपादन करता है। इसीलिए उसकी संज्ञा वेद है। समस्त जीवन पद्धति का निरूपण करने के साथ-साथ समस्त प्राणिमात्र की हित कामना से सृष्टि के आरम्भ से सृष्टि के अवसान तक के अनेक वैज्ञानिक पक्षों का निरूपण वेदों में देखने को मिलता है। किसी भी अति प्राचीन साहित्य को समझनें के लिए तत्कालीन परिवेश एवं साहित्य के सर्जक को भी समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। वेद के साथ यही कठिनाई है। एक लम्बे अन्तराल के कारण आज तक वेद की भाषा, वैदिक परिवेष तथा उसके सर्जक एक सरल एवं सर्वगम्य भाषा में परिभाषित नहीं हो सके। परिणामत: आज विश्व का प्राचीनतम विज्ञान केवल श्रद्धा का विषय बन कर रह गया है। कुछ प्रबुद्ध मनीषियों ने वेदों के कुछ अंशों को विज्ञान की दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया है। उन्ही मनिषियों के अनुसन्धान के आलोक में विज्ञान के कुछ विन्दुओं की ओर ध्यानाकर्षण का एक संक्षिप्त प्रयास कर रहा हूँ।

सर्वप्रथम मैं सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख करना चाहूँगा। आधुनिक विज्ञान भी इस गहन गुत्थी को सुलझानें में अहर्निश प्रयत्नशील है। वेदों ने सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख कई प्रकार से किया है किन्तु सभी विधियों का पर्यवसान किस प्रकार एक नियम में होगा यह निष्कर्ष रूप में ज्ञात नहीं हो सका। वेदों से कुछ संकेत ऐसे मिल रहे हैं जिनके आधार पर शोधकार्य को दिशा मिल रही है। उनमें से दो संकेतो (सिद्धान्तों) का उल्लेख करना चाहूँगा।

प्रथम सिद्धान्त ''ऋतं च सत्यं च भीद्धातपसोऽध्यजायत.......... यथा पूर्वमकल्पयत'' इस मन्त्र से दो सिद्धान्त प्रगट होते हैं।

१. सृष्टि क्रम एक सुनिश्चित प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वयं परिचालित होता है, जिसका नियन्ता स्वयं ब्रह्मा हैं। जिस क्रम से सृष्टि प्रारम्भ होती है उसी क्रम से उसका विलय एवं पुन: प्रारम्भ होता है। सृष्टि प्रक्रिया का क्रम ब्राह्मण ग्रन्थों एवं संहिताओं में भी बतलाया गया है। इनमें तैत्तिरीयोपनिषद् का क्रम अत्यन्त

सुव्यवस्थित है। इसमें कहा गया है— "सर्व प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई अनन्तर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न तथा अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति हुई।

२. सभी प्रकार की सृष्टि एक साथ स्वतन्त्र रूप से होती है। किसी जीव का परिष्कार दूसरे जीव के रूप में नहीं होता। युगपत् सृष्टि का क्रम ही वैदिक सिद्धान्त है।

**दूसरा सिद्धान्त –** अग्नि जिसे सूर्य, ऊर्जा या तेज कहा गया है, उसी के द्वारा सृष्टि होती है। जैसा कि महर्षि व्यास ने कहा है—

नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठायोनिरेव च।

चन्द्रऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः।

सूर्यसिद्धान्त भी कहता है कि सर्व प्रथम सूर्य की उत्पत्ति हुई पश्चात् सूर्य से सारी सृष्टि हुई। इसीलिए कहा गया है—

"आदित्यो ह्यदिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते।"

आधुनिक विज्ञान ने भी विश्वोत्पत्ति सम्बन्धी अपने अनुसन्धानों में सूर्य की भूमिका को ही विशेष महत्व दिया है। विस्फोट और विगबैन सिद्धान्त का मूलाधार ही सूर्य है। जैविक सृष्टि के सन्दर्भ में वेदों का स्पष्ट उद्घोष है — "अग्निसोमात्मकं जगत्।" अग्नि (सूर्य) और सोम के सहयोग से ही सृष्टि होती है। अग्नि का बाहक या कारक सूर्य है तथा सोम का बाहक चन्द्रमा। सूर्य उर्जा का स्रोत है तथा चन्द्रमा अमृतत्व (जीवन) का स्रोत है। सूर्य की रश्मि ही चन्द्रमा के अमृत को अपने माध्यम से अन्य पिण्डों तक पहुचाती है जिससे जीवन का संचार होता है। जहाँ-जहाँ सूर्य और सोम का समुचित प्रवाह है वहाँ-वहाँ जीवन है जहाँ इनका अभाव है वहाँ जीवन का भी अभाव है। आज विज्ञान इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी से इतर किसी अन्य पिण्ड पर जीवन है या नहीं, इसकी खोज में अनवरत प्रयत्नशील है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार स्थावर एवं जंगम दोनों प्रकार की सृष्टि अग्नि और सोम पर ही आधारित है। सोम का सम्बन्ध अन्य पिण्डों या पृथ्वी से सूर्यरश्मियों के माध्यम से होता है। सूर्य की

रश्मियों का उल्लेख वेदों में कई प्रकार से किया गया है। प्रसंगात् रश्मियों के सन्दर्भ में वैदिक दृष्टिकोण का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। (रश्मियों का विवेचन विस्तृत रूप से संस्कृत निबन्ध सहस्त्ररश्मि में किया गया है।)

सूर्य को सप्तरश्मि कहा गया है— सूर्य की इन सात रश्मियों के नाम और उनके प्रभाव का उल्लेख करते हुए भगवान् व्यास ने कहा है—

सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च।

विश्वव्यचा: ततश्चान्य: संयद्वसुरत: पर:।।

अर्वावसुरिति ख्यात: स्वराडन्य: प्रकीर्तित:।

सुषुम्न: सुर्यरश्मिस्तु पुष्णाति शिशिरद्युतिम् ।। कू. पु. १.४१.३-४

अर्थात् सुषुम्ना, हरिकेश, विश्वकर्मा, विश्वव्यचा, अर्वावसु, संयद्वसु तथा सुराट् नामक सूर्य की ये सात रश्मियाँ हैं जिन्हें ऋग्वेद में सात अश्वों के रूप में कहा गया है। ये रश्मियाँ ही समस्त सृष्टि प्रक्रिया में विभिन्न रूपों में सहायक हैं। इनमें से सुषुम्ना नामक रश्मि चन्द्रमण्डल को प्रकाशित करती हुई चन्द्रतल से अमृतविन्दुओं को पृथ्वी तक पहुचाती हैं, जिनसे जीवन का संचार होता है। परन्तु यह जीवन किस रूप में दृश्य होगा? कोई भी जड़ चेतन शरीर पंचमहाभूतों के मिश्रण विना दृश्य नहीं हो सकता। सूर्य की शेष छ: रश्मियों में पाँच रश्मियाँ पंच महाभूतों की संवाहिका हैं। सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है—

अग्निषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वंगारकादय:।

तेजो भूखाम्बुवातेभ्य: क्रमश: पञ्च जज्ञिरे। सू. सि. १२.२३

अर्थात् एक-एक रश्मि एक-एक ग्रह का पोषण करती हैं तथा वहाँ के प्रभाव को ब्रह्माण्ड में फैलाती हैं, जिनसे पंचमहाभूतों की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा उनके प्रभाव से विविध रूपों में सृष्टि के दर्शन होते हैं। इन सात रश्मियों में से सोम की संबाहिका सुषुम्ना रश्मि चन्द्र को पोषित करती है, तेज (उर्जा) की संबाहिका हरिकेश नामक रश्मि नक्षत्रों से सम्बन्ध रखती है। इससे

यह भी ज्ञात होता है कि एक उर्जा स्रोत अपने समान गुणधर्म वाले अन्य उर्जास्रोतों से भी सम्बन्ध स्थापित कर अपनी उर्जाशक्ति का सन्तुलन बनाते रहते हैं। जैसा कि कहा है—

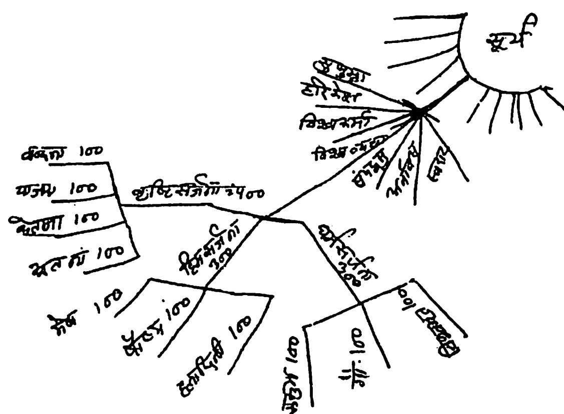
एवं सूर्यप्रभावेण सर्वा नक्षत्रतारकाः।

बर्धन्ते बर्धिता नित्यं नित्यमाप्यायन्ति च।। कू. पु. १.४१.९

अर्थात् महर्षि व्यास की ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के सम्बन्ध में यह एक महनीय दृष्टि है जो आज के विज्ञान के लिये भी पथ प्रदर्शक है।

शेष विश्वकर्मा रश्मि भूतत्व की संवाहिका है, यह बुध को प्रकाशित एवं पोषित करती है। विश्वव्यचा जल तत्व की संवाहिका होने से शुक्र को, संयद्वसु तेज की संवाहिका होने से भौम को, अर्वावसु आकाश तत्व की संवाहिका होने से बृहस्पति को तथा वायु तत्व की संवाहिका सुराट् नामक रश्मि शनि को पोषित करती है।

इसी प्रकार जब हम सहस्त्र रश्मियों के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो कई तथ्य सामने आते हैं। यथा ये रश्मियाँ, ऊष्णता, शीतलता तथा वृष्टि की भी सर्जक हैं। इन तथ्यों पर प्रकाश डालने के लिए इन सहस्त्र रश्मियों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। सूर्य की प्रत्येक रश्मि के १००० सूक्ष्म विभाग हैं। इनको प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है। जैसा चित्र में दर्शाया गया है।



**१. वृष्टि सर्जना नाडी (अमृता संज्ञक)** – इनमें १००-१०० रश्मियों की वन्दना, याज्या, केतना तथा भूतना नामक चार उप नाडियाँ होती हैं। अर्थात कुल ४०० रश्मियाँ अमृता संज्ञक होती हैं।

**२. हिमसर्जना नाडी (चन्द्रा संज्ञक)** – इसमें १००-१०० रश्मियों की मेष्य, पौष्य और ह्लादिनी नामक तीन उप नाडियाँ होती हैं। इसमें कुल ३०० रश्मियाँ होती हैं।

**३. घर्मसर्जना नाडी (शुक्रा संज्ञक)** – इसमें १००-१०० रश्मियों की ककुभ, गौ तथा विश्वभृत नामक कुल तीन उप नाडियाँ हैं इनकी कुल संख्या ३०० है। इस प्रकार तीनों नाडियों की रश्मियों की कुल संख्या १००० होती है। इसीलिए सूर्य को सहस्र रश्मि कहा जाता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सूर्यरश्मियाँ केवल उष्णता ही नहीं प्रदान करती अपितु शीत और हिम की भी कारक होती हैं। जब हम इन रश्मियों में हिमसर्जना और वृष्टि सर्जना की चर्चा करते हैं तो हमें रमन इफेक्ट का स्मरण हो आता है। सन् १९२८ में सर सी. वी. रमन ने जब समुद्र के गहरे जलके नीलेपन का रहस्योद्घाटन किया था। इससे पूर्व यही धारणा थी कि गहरे जल में आकाश का नीलारंग ही प्रतिविम्बित होता है। परन्तु अपनी समुद्र यात्रा के समय ही सर सी. वी. रमन ने नीलेपन का कारण ढूढ़ लिया था, किन्तु उसकी आधिकारिक घोषणा २८ फरवरी १९२८ को की गई। सर सी. वी. रमन ने सिद्ध किया कि जल में दीखने वाला नीला रंग वस्तुत: जल के अणुओं द्वारा प्रकाश के प्रकीर्णन से होता है। अर्थात् रंग की सत्ता में भी प्रमुख रूप से सूर्य की विविक्त रश्मियाँ ही हेतु हैं। क्योंकि स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ''जल के अणुओं पर आपतित प्रकाश की विविक्त किरणों के प्रकीर्णन से नीला रंग समुद्र के गहरे जल में दृश्य होता है।'' सूर्य की रश्मियों के जो सूक्ष्म विभाग हैं उन्हीं विविक्त किरणों (रश्मियों) के प्रकीर्णन से ही उक्त प्रभाव का सम्बन्ध है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में सूर्य से सम्बन्धित अनेक ऐसे तथ्य हैं जिनपर गहन चिन्तन की अपेक्षा है। सूर्य के साथ-साथ खगोल से सम्बन्धित अनेक विषयों के प्रतिपादन एवं उपलब्धियों के भण्डार वेदों में निहित हैं। ज्योतिष शास्त्र वेदांग ही नहीं अपितु वेद का नेत्र भी माना जाता है। अत: यहाँ ज्योतिष की चर्चा न करते हुए उन विन्दुओं की ओर इंगित करना अधिक उपयुक्त होगा जिनको

आज की परिभाषा में विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान की लगभग सभी विधाओं का मूल गणित शास्त्र है। इसका भी शुभारम्भ वेदों से ही होता है।

गणित— प्रारम्भिक गणित के प्रमुख तीन भेद होते हैं। १. अंक गणित, २. बीजगणित तथा ३. रेखागणित। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ वेदों में बीज गणित के संकेत नहीं हैं। किन्तु अंकगणित और रेखागणित के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। सर्वप्रथम वैदिक कालगणना ही स्वयं गणित का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। काल की सूक्ष्म इकाई का विभाजन करते हुए वैदिक ऋषियों ने १ सेकेण्ड के ३७९६८वें भाग तक मान निकाल लिया। काल की सबसे सूक्ष्म इकाई का नाम परमाणु रखा है। एक परमाणु का मान सेकेण्ड में परिवर्तित करने पर दशमलव में ०.००००२६ सेकेण्ड (१= १/३७९६८) के तुल्य होता है। काल की बड़ी इकाई का मान एक के ऊपर १९ शून्य रखने पर आता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ इतनी सूक्ष्म से लेकर इतने बड़े अंको वाली संख्याओं का अंक विस्तार विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं था, आज भी सम्भवत: उपलब्ध नहीं है।

यजुर्वेद में उपलब्ध गणित के श्रेढी व्यवहार का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। चय प्रक्रिया का संकेत करते हुए पहले दो की वृद्धि के साथ १७ अंको का तथा ४ की वृद्धि के साथ १२ अंकों का उदाहरण दिया है। पहले उदाहरण में आदि १ है। अर्थात एक से संख्याका आरम्भ होता है तथा २-२ की वृद्धि के साथ संख्या १७ अंकों तक आगे बढ़ती है। "एका च मे तिस्रश्च मे पंच च मे ......... त्रयस्त्रिंशच्च मे।

इस प्रकार चय (वृद्धि) के उदाहरण में अन्तिम संख्या (अन्त्यधन) का ज्ञान करने के लिए भास्कराचार्य ने सूत्र दिया है—

"व्येकपदघ्नचयो मुखयुक्स्यादन्त्यधनं" (लीलावती)

अर्थात् एक रहित पद को चय से गुणा कर आदि संख्या जोड़ने से अन्तिम संख्या का मान आता है। यहाँ आदि = १, चय = २, पद = १७ अत: सूत्रानुसार गणित करने पर— १७-१ = १६, १६×२ = ३२, ३२

+ १ = ३३ अन्त्यधन (अन्तिम संख्या) ये विषम संख्यायें ३३ वैदिक देवताओं ( ८ वसु + ११ रूद्र + १२ आदित्य + १ इन्द्र + १ प्रजापति = ३३) क्री सूचक हैं. इसी प्रकार सम संख्याओं की चयात्मक श्रेणी का उदाहरण है। यथा—

"चतस्त्रश्च मेऽष्टौ च मे..................अष्टचत्वरिंशच्च मे।"

यहाँ आदि (मुख) ४, चय ४ तथा पद १२ हैं। अत: सूत्रानुसार (१२-१) ४+४ = ४८ सर्वधन का मान हुआ। यह संख्या जगती छन्द की अक्षर संख्या की सूचक है।

दूसरा उदाहरण युजर्वेद का ही मन्त्र है "सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिसप्त समिध: कृता:" यह वृत्त और परिधि के सम्बन्ध का द्योतक है। मन्त्र के अनुसार वृत्त और परिधि में ७ और २१ का सम्बन्ध हैं, जो स्वल्पान्तर से गणितीय सिद्धान्त के अनुरूप है। गणित का सूत्र है

व्यासे भनन्दाग्नि हते विभक्ते खबा॰ासूर्यै: परिधि: स सूक्ष्म:।

द्वाविंशतिघ्ने, विहृतेऽथ शैलै: स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्य:।।

लो. क्षे. ४२

अर्थात् व्यास को ३९२७ से गुणा कर १२५० से भाग देने पर सूक्ष्म परिधि का मान आता है। तथा व्यास को २२ से गुणा कर ७ का भाग देने से स्थूल परिधि का मान होता है। २२/७ का मान ३.१४३ तथा २१/७ का मान ३ होता है जो स्वल्पान्तर से बराबर ही है।

शुल्बसूत्रों में जहाँ विविध वेदियों एवं चितियों की चर्चा है वह सम्पूर्ण ग॰णतीय विषय है। वृत्त के क्षेत्रफल तुल्य चतुर्भुज बनाना या चतुर्भुज तुल्य वृत्त बनाना यह सब रेखागणित के अन्तर्गत आते हैं। चितियों में प्रयोग होने वाले ईटों के साँचे का निर्माण भी कुशल तक्नीकी प्रक्रिया से ही हो॰ता था। क्योंकि अंगुल मान से लेकर हस्त प्रमाणों में वर्ग, आयत, त्रिकोण, अर्धवृत्त, पंचकोण आदि आकृतियों के ईटों के निर्माण तथा उन्हे पकाने एवं वेदियों

तथा चितियों में सुरक्षित स्थापित करने की जो प्रक्रिया है उससे ज्ञात होता है कि पहले चिति या वेदी का मानचित्र बनाते हैं। तदनुसार परिमाण एवं आकृति का निर्धारण कर ईटों का निर्माण होता था। ईंटों को काट कर या गढ कर लगाने की प्रथा वेदियों या चितियों में नहीं थी। ईटों की गणना हेतु दस से लेकर परार्ध तक की विशाल संख्याओं का उल्लेख किया गया है।

**खगोल-** सामान्य गणित के साथ-साथ खगोलीय गणित का भी चमत्कारिक उदाहरण ग्रहण के सन्दर्भ में उपलब्ध होता है। ग्रहों का भगण काल का ज्ञान कर उनकी गति एवं भगण पूर्ति काल के आधार पर ग्रहण चक्र का संकेत किया गया है जिससे एक ग्रहण की पुनरावृत्ति १८ वर्ष ११ दिनों में होती है, इसका ज्ञान हो जाता है। इस ग्रहण चक्र की उपपत्ति इस प्रकार है—

एक चान्द्रमास में २९.५३ दिन होते हैं। चन्द्रमा का नक्षत्रचक्रभ्रमण काल २७.३२१७ दिनों का होता है। अतः २२३ चान्द्र मासों तथा २४१ चान्द्रभगणों के काल लगभग तुल्य होते हैं। इस प्रकार जब तक चन्द्रमा २४१ भगण पूर्ण करता है, तब तक केवल २२३ चान्द्रमास पूर्ण हो पातें हैं। अर्थात् १८ भगण अथवा १८×२७ = ४८६ नक्षत्र चन्द्रमा तब तक आगे हो जाता है। अतः त्रैराशिक से ज्ञात होता है कि एक चान्द्रमास में चन्द्रमा २.१७ अर्थात दो नक्षत्रों से कुछ अधिक आगे होता है। यही कारण है कि मासान्त में कभी दो तथा कभी ३ नक्षत्रों का अन्तर आ जाता है। २२३ चान्द्रमास लगभग १८ वर्ष ११ दिनों के तुल्य होते हैं। चन्द्रमा अपनी गति से लगभग २७.२१२१ दिनों में अपने पात (राहु) स्थान पर आ जाता है। अतः ग्रहण का काल भी सम्भावित रहता है। इसी आधार पर १८ वर्ष तथा ११ दिनों के अन्तराल पर ग्रहणों की पुनरावृत्ति का पूर्व ज्ञान कर लिया जाता था। सरलता हेतु गणित द्वारा काल मानों की समता प्रदर्शित है—

| | | |
|---|---|---|
| २२३ चान्द्रमास | = २२३×२९.५३ | = ६५८५.३२ दिन |
| २४१ भगण | = २४१×२७.३२१७ | = ६५८२.५२ दिन |
| २४२ चन्द्रराहुयोग | = २४१×२७.२१२१ | = ६५८५.३३ दिन |
| १८ वर्ष ११ दिन | = १८×३६५.२५६३+११ | = ६५८५.६१ दिन |

वैदिक गणित के सन्दर्भ में शंकराचार्य स्वामी श्री भारतीकृष्णतीर्थ जी ने

जिन सूत्रों की रचना की है वे अपने आप में स्वत: प्रमाण हैं। भास्कर आदि आचार्यों की रचनायें भी अपनी वैदिक परम्परा की ही परिचायिका हैं। गणित के अतिरिक्त अन्य विषयों की ओर दृष्टि डालने पर अनेक महत्वपूर्ण सामयिक विषयों पर गहन चिन्तन के सूत्र मिलते हैं। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण विन्दुओं का उल्लेख करना चाहूँगा!

ब्रह्माण्ड के अपारत्व की ओर संकेत करते हुए कहा गया है "तीन द्युलोक हैं, उनमें से दो सविता के उदर में हैं। अर्थात एक द्युलोक की हम कल्पना कर पाते हैं। इसके बाद ऋषि ने स्पष्ट कह दिया "इह ब्रवीत् य उ तच्चिकेतत्" अर्थात् ब्रह्माण्ड को समग्र रूप में यदि कोई जानता हो तो मुझे बताये। अभिप्राय स्पष्ट है, कोई नहीं जानता।

इन्द्र का परिचय देते हुए ऋषि ने सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी की स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "जिसने कापती हुई पृथ्वी को स्थिर किया है उसे इन्द्र कहते हैं।" पृथ्वी के गोलत्व, निराधारत्व तथा सूर्याकर्षण वशात् आकाश में स्थिति के स्पष्ट उल्लेख से पृथ्वी के वास्तविक स्वरूप का पूर्णत: आभास हो जाता है। इतना ही नहीं पूर्व क्षितिज पर कृत्तिका नक्षत्र की सूचना अयनविन्दु का संकेत करता है। ज्योतिषशास्त्र तो वेद का नेत्र ही है अत: उसका उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर होना स्वाभाविक है। इसलिए यहाँ ज्योतिषशास्त्र के सन्दर्भो की चर्चा न कर अन्य वैज्ञानिक विन्दुओं की ओर ध्यानार्षण करने का प्रयास करूँगा।

1. बृहदारण्यक में पुत्रमन्थ कर्म के अन्तर्गत इच्छानुसार रंग-रूप और स्वभाव वाले सन्तान की उत्पत्ति का विधान बताया गया है। इस कर्म में उपयुक्त काल और विशिष्ट आहार का प्रयोग होता है तथा गर्भाधान के अनन्तर विविध संस्कारों का विधान है। आज का विज्ञान भी इस विषय पर गहन अनुसन्धान और प्रयोगों में संलग्न हैं।

2. पशुपालन और कृषि वैदिक काल का प्रमुख व्यवसाय रहा है। पशुओं में गौ का सर्वोच्च स्थान रहा है। गौ शब्द पृथ्वी का पर्याय भी रहा है। जब-जब पृथ्वी पर संकट आया है पृथ्वी ने गौ का ही रूप धारण किया। गौ सम्पत्ति की सूचक भी रही है। किसी भी व्यक्ति की भौतिक सम्पत्ति का अनुमान उसके पास

गौओं की संख्या से ही लगाया जाता रहा है। वैदिक साहित्य के अनुसार गौओं की सृष्टि नहीं थी, इनकी आवश्यकता अनुभव कर अंगिरा ऋषि ने तपस्या कर गौओं को प्राप्त किया। गौओं के दुग्ध एवं घृत आदि से यज्ञों की हवि तैयार की जाती थी। इसलिए गौओं का विशेष वर्णन मिलता है।

गाय का दूध ही नहीं अपि तु गाय से प्राप्त सभी वस्तुएँ गव्य कही जाती हैं। गव्य पाँच प्रकार के होते हैं। १. दूध, २. दधि, ३. घृत, ४. गोमूत्र, ५. गोमय। ये सभी यज्ञीय पदार्थ हैं तथा अति पवित्र हैं। इनके मिश्रण को पंचगव्य कहा जाता है। इनकी पवित्रता बनाये रखने हेतु इसमें कुशोदक का भी मिश्रण करना चाहिए।

3. कृषि-"अथो अन्नेनैव जीवन्ति" इस उपनिषद् वाक्य से ही कृषि के महत्व का अनुमान हो जाता है। महर्षि पराशर ने भी कृषि के महत्व को बतलाते हुए कहा है कि कानों में, कण्ठ में तथा हाँथों में यदि स्वर्णाभूषण भरे पड़े हो तो भी अन्न के अभाव में उपवास ही करना पड़ेगा। अतः कृषि को किसी के ऊपर न छोड़ कर स्वयमेव कृषि हेतु जाना चाहिए। कहा भी है—

पितुरन्तःपुरं दद्यात् मातुर्दद्यान्महानसम्।
गोषु चात्समं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत्।।

वैदिक काल में कृषि हेतु ऋतुओं का तथा वर्षा का पूर्वानुमान करने की प्रथा रही है। ऋतुओं के अप्रसन्न होने से कृषि का नाश तथा प्रसन्न होने से कृषि की वृद्धि होती है। छान्दोग्य उपनिषद में छः ऋतुओं की संज्ञा उनके गुणों के आधार पर की गई है। यथा-वसन्त को हंकार, ग्रीष्म को प्रस्ताव, वर्षा को उद्गीथ, शरद् को प्रतिहार, हेमन्त और शिशिर को निधन संज्ञा दी गई है। वृष्टिज्ञान के प्रसंग में वर्षा और ऋतुओं का समावेश स्वयमेव हो जाता है। उपनिषदों में कथाओं के माध्यम से अधिक से अधिक अन्न उपजानें की प्रेरणा दी गई है।

4. शिल्प एवं व्यवसाय—मिट्टी के खिलौनें, मिट्टी के बर्तन, लोहे के उपकरण, आविज (ऊनी) वस्त्र, सुवसन आदि विविध वस्त्रनिर्माण, स्वर्णाभूषण, रथ, शकट आदि वाहनों के निर्माण आदि कार्यों के पर्याप्त

उल्लेख मिलते हैं। इसी क्रम में लोहे के प्रति चुम्बक के सहज आकर्षण को दर्शाया गया है, परन्तु इस आकर्षण का कारण नहीं कहा गया है। सीधे शब्दों में कह दिया गया कि ''चुम्बक की ओर लोहे के दौड़ने का कारण अदृष्ट है।''

5. स्थापत्य और वास्तु—उपनिषद् काल तक गृह, नगर, दुर्ग तथा सेतु निर्माण आरम्भ हो चुके थे। नवद्वार वाले पुर, महाशाल (विस्तृत भवन), आयसी पुर लोहे के दुर्ग अथवा लोहे के समान सुदृढ़ दुर्गों के उल्लेख इस बात का संकेत देते हैं कि तब तक तक वास्तु एवं स्थापत्य का भी विकास प्रारम्भ हो गया था। गृह के अन्दर अन्तःसज्जा के क्रम में अनेक पुतलियों एवं यन्त्रों के निर्माण का भी विधान दिया गया है। समरांगण सूत्रधार में यन्त्र से उड़ने वाले पक्षियों, यन्त्र निर्मित द्वारपाल आदि की भी चर्चा है। भवन निर्माण के उपकरणों के सन्दर्भ में इष्टिका निर्माण की पद्धति का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। यज्ञ की वेदी में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न आकृतियों एवं विभिन्न आकार वाली ईटों का निर्माण तथा उनकी गणना पद्धति गणितीय एवं शिल्पीय दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

वेद तथा वैदिक साहित्य ज्ञानराशि से परिपूर्ण हैं। आवश्यकता है गहन परिशीलन एवं अनुसन्धान की। वैदिक समृद्धि का केवल गुणगान न कर यदि हम उनमें निहित ज्ञान राशि का प्रकाशन करेंगे तभी हमारी वेदों के प्रति श्रद्धा सार्थक होगी।

**सन्दर्भ–**

१. ऋ.सं. १०.१९०.३।

२. तस्माद्वा एतस्मादात्मन: आकाश: सम्भूत:, आकाशाद्वायु:, वायोरग्नि:, अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथ्वी, पृथिव्या ओषधय:, ओषधीभ्योऽन्नम् , अन्नात् पुरष:। तैत्तिरीयोपनिषत् २.१।

३. मत्स्य पु. १२७.२९।

४. सूर्य सिद्धान्त भू. अ. १५।

४+. सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो बहति सप्तनाम। ऋ. सं. १.१६४.२।

५. कूर्म पु. १.४१.३-४।

६. सूर्यसिद्धान्त भू. अ. २४।

७. कूर्म पु. १.४१.९।

८. कूर्म पु. १.४१.११-१४।

९. प्रज्ञा (सर सी.वी. रमन स्मृति अंक) १९८७-८८ पृ. २९७

१०. १ त्रुटि=३ त्र्यसरेणु=०.०००४७ सेकेण्ड, १ त्रसरेणु = ३ अणु = ०.०००१५ सेकेण्ड १ = अणु = २ परमाणु = ०.००००२६ से. = १/३७९६८ १ = अणु = २ परमाणु = ००००५२ से., १ परमाणु = ०.००००२६से. = १/३७९६८ सेकेण्ड

११. यजु. (रुद्राष्टाध्यायी) २.२४।

१२. लीलावती श्रेढी. ३।

१३. यजु., (रुद्राष्टाध्यायी) २.२५।

१४. लीलावती क्षेत्र. ४०।

१५. बौधायन शु. सू. अ. २,४,७।

१६. ज्योतिर्निबन्धवली पृ. ९४।

१७. उद्धृत भारतीय ज्यो. (ऋ. सं. १.३५.६)।

१८. द्रष्टव्य वेदिक सम्पत्ति पृ. २९०।

१९. उपनिषद कालीन संस्कृति पृ. १९१।

२०. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, वेद खण्ड पृ. ५९४-९५।

२१. वही पृ. ५९३।

२२. शार्ङ्गधर संहिता।

२३. कृषिपाराशर १.५ एवं ३.२।

२४. उपनिषद् कालीन सं. पृ. ३९७।

२५. द्र. वैदिक सम्पत्ति पृ.

२६. उपनिषद कालीन संस्कृति पृ.

२७. इयं मे अग्न इष्टिका धेनवःसन्त्वेका च दशच शतं च .......... परार्धश्चेतामेऽग्नइष्टका धेनवः। यजु. वाज. सं. १७.२।



# पञ्चसिद्धान्तिका : एक सर्वेक्षण

पञ्चसिद्धान्तिका के विषय में कुछ कहने से पूर्व आवश्यक हो जाता है इसके रचनाकार ज्योतिष शास्त्र के समुद्धारक, परम वैज्ञानिक, उज्जयिनी रत्न आचार्य वराहमिहिर के विषय में कहना। यद्यपि आचार्य वराहमिहिर का नाम किसी से अपरिचित नहीं है फिर भी उनके प्रति अपने श्रद्धा भाव प्रकट करने के लिए उनके ऐतिह्य का उल्लेख करना चाहूँगा। उनके जन्म के विषय में निश्चित प्रमाण उपलब्ध न होने से इतिहासकारों ने सप्ताश्विवेदसंख्यं के आधार पर इनका जन्म शक ४२७ में माना है। कुछ विद्वानों ने इसे ग्रन्थ रचना काल तथा इससे न्यूनतम १५ वर्ष पूर्व शक ४१२ में इनका जन्म समय माना है। परन्तु आचार्य की प्रौढ़ रचनाओं को देखते हुये १५ वर्ष की आयु भी पर्याप्त प्रतीत नहीं होती। अध्ययन, देशभ्रमण, सिद्धान्तों का संकलन एवं सम्पादन इन सभी कार्यों के लिए यदि न्यूनतम २५ वर्ष की आयु कल्पित करें, तब इनका जन्म समय २५ वर्ष पूर्व अर्थात् ४०२ शक सिद्ध होगा। इसी प्रकार शक ४२७ पञ्च सिद्धान्तिका का रचनाकाल ही है यह भी सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता। यह रचनाकाल से पूर्व गंणना की दृष्टि से महत्वपूर्ण समय भी हो सकता है, परन्तु पुष्ट प्रमाण के अभाव में आचार्य द्वारा उद्धृत काल शक ४२७ को पञ्चसिद्धान्तिका काल स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। इनके तिरोधान की तिथि में सन्देह नहीं है उसे सभी ने ५०९ शक स्वीकार किया है। वराहमिहिर की अद्‌भुत प्रतिभा का आभास पञ्च-सिद्धान्तिका और बृहत्संहिता से लगता है। विज्ञान की अधिकतम विधाओं को उन्होंने संग्रह कर बृहत्संहिता में समेट दिया है। आज बृहत्संहिता ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिससे ज्योतिषशास्त्र के विस्तृत क्षेत्र का पूर्ण आभास होता है। इसलिए विक्रमादित्य के राज्य सभा के सभी विद्वानों (नव रत्नों) में वराहमिहिर का अद्वितीय स्थान रहा है। जैसाकि कहा गया हैः—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा:।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।[१]

यद्यपि इस पद्य में निर्दिष्ट नाम समकालीन आचार्यों के नहीं हैं। अत: विक्रमादित्य के नवरत्नों में ये सभी एक साथ रहे हों ऐसा मानना ऐतिहासिक दृष्टि से संगत नहीं है। सम्भव है तत्कालीन मूर्धन्य विद्वानों को उक्त नामों से विभूषित किया गया हो। अस्तु आचार्य वराहमिहिर एक मात्र ऐसे आचार्य है जिनका कार्यक्षेत्र समग्र ज्योतिष शास्त्र रहा है। ज्योतिष के तीनों स्कन्धों में उनकी मानक रचनायें हैं।

| | | |
|---|---|---|
| सिद्धान्त में | - | पञ्चसिद्धान्तिका |
| संहिता में | - | बृहत्संहिता, विवाहपटल, योगयात्रा |
| होरा में | - | बृहज्जातक, लघुजातक |

आज भी ये ग्रन्थ उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने उस समय थे तथा भविष्य में भी रहेंगे।

वराहमिहिर ने संकीर्ण भावनाओं का परित्याग कर ज्ञानपिपासा से देशान्तर भ्रमण भी किया। जहाँ भी उन्हें कुछ ज्ञान की बातें मिलीं उनका संग्रह किया। उनके अन्दर उदात्त भावनायें थी। उन्होंने उन्मुक्त भाव से अपने विचारों की घोषणा की थी।

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रं प्रतिष्ठितम्।

ऋषिवत्तेपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विज:।।[२]

कभी-कभी गुण भी दोष के रूप में देखे जाते हैं। आचार्य के ऊपर इस प्रकार के आरोप भी लगते रहे है कि वे ग्रीक और यवनों से अधिक प्रभावित थे। राशियों के नाम क्रिय, ताबुरि, जितुम आदि ग्रीक नामों से मिलते हैं। इन्हीं

१. ज्योतिर्विदाभरणम् २२.१०।

२. बृहत्संहिता २.३०।

आधारों पर उन्हें ग्रीक प्रभावित भी कहा जाता है। अस्तु आचार्य ने पाँचों सिद्धान्तों के संग्रह के साथ-साथ एक अद्भुत कार्य भी किया है जिससे ग्रहों की गणना पद्धति परिष्कृत हुई। इन्होंने बीज संस्कार देकर स्थूल ग्रह गणित को दृक्प्रत्ययकारक बनाया। सूर्य सिद्धान्त के ग्रहों में बीज संस्कार का परिमाण उनके निम्नलिखित पद्य से ज्ञात होता है—

क्षेप्याः शरेन्दुविकलाः प्रतिवर्षं मध्यमक्षितिजे।

द्वादशगुरोर्विशोध्याः शनैश्चरे सार्धसप्तयुताः।।

पञ्चदश विशोध्याः सिते बुधे खाश्विचन्द्रयुताः।।

[भा. ज्यो. पृ. 298

अर्थात् प्रतिवर्ष मध्यम मंगल में १५ जोड़ना है। मध्यम गुरु से १२ विकला घटाना है, मध्यम शनि में ७।३० विकलादि जोड़ना है, शुक्र में २५ घटाना है तथा मध्यम बुध में १२० विकला जोड़ना है।

उक्त बीज संस्कारों से संस्कृत तत्कालीन ग्रह दृक् प्रत्यय कारक हो गये। इस प्रकार न केवल सिद्धान्तों का संग्रह कर उनकी रक्षा की अपितु सिद्धान्तों का परिष्कार कर उनको सामयिक एवं उपयोगी भी बनाया।

आचार्य वराहमिहिर की सभी मानक कृतियों में सिद्धान्त स्कन्ध का प्रतिनिधित्व करने वाली एक मात्र रचना "पञ्चसिद्धान्तिका" नाम से सुप्रसिद्ध है। यद्यपि आचार्य ने सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप मे इसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टोत्पल ने इसे वराहमिहिर विरचित सिद्धान्त कहा है। इसके नाम से तथा इसमें संग्रहीत सिद्धान्तों से स्वयं सिद्ध हो जाता है कि पञ्चसिद्धान्तिका एक सिद्धान्त ग्रन्थ है, किन्तु आचार्य वराहमिहिर ने अपनी कृतियों में स्वयं इसे करण ग्रन्थ कहा है। आचार्य सुधाकर द्विवेदी ने भी पञ्चसिद्धान्तिका के मंगलाचरण में राम की स्तुति करते हुये लिखा है—"स्मारं स्मारं सततं विवृणोमि वराहजं करणम्।। इस प्रकार "पञ्चसिद्धान्तिका" को "करण ग्रन्थ" के रूप में ही स्वीकार करना उचित होगा। पाँचों सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने

कहा है[१]—

पौलिश-रोमक-वसिष्ठ-सौर-पैतामहास्तु सिद्धान्ताः।।
पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ व्याख्यातौ लाटदेवेन।।
पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ।।

अर्थात् पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर तथा पैतामह ये पाँच सिद्धान्त हैं इनमें से आरम्भ के दो सिद्धान्त पौलिश और रोमक की व्याख्या आचार्य लाटदेव ने की है। पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है। उसी के आसन्न रोमक सिद्धान्त है। इन दोनों की अपेक्षा सूर्य सिद्धान्त अधिक स्पष्ट है तथा शेष वसिष्ठ और पैतामह सिद्धान्त अशुद्ध है। शंकर बाल कृष्ण दीक्षित ने उक्त पद्यों पर अपना आशय प्रकट करते हुये लिखा है कि पञ्चसिद्धान्तिका के काल में पौलिश सिद्धान्त दृक्प्रत्यय कारक था उसी के आसन्न दृक् प्रत्ययकारिता रोमक सिद्धान्त की थी। श्री टी. एस. कुप्पन्नाशास्त्री द्वारा सम्पादित पञ्चसिद्धान्तिका में कुछ पाठान्तर हैं जिससे सम्पूर्ण पौलिश सिद्धान्त की स्फुटता सन्दिग्ध हो जाती है। म.म.पं. सुधाकर द्विवेदी एवं G. Thibaut द्वारा सम्पादित ग्रन्थ के आधार पर "पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ"[१] पाठ दिया है इससे सम्पूर्ण पौलिश सिद्धान्त की स्फुटता सिद्ध होती है किन्तु श्री कुप्पन्ना शास्त्री अपने ग्रन्थ में "पौलिशतिथिः स्फुटोऽसौ" यह पाठ दिया है इससे तो यही स्पष्ट होता है कि पौलिश सिद्धान्त की केवल तिथि ही स्पष्ट (दृक प्रत्यय कारक है)। इसकी व्याख्या में भी लिखा है "The Tithi resulting from the Paulish is tolerably accurate and that of the Romaka approximate to that. The Tithi of the saur is very accurate."[२] श्री एस. बालचन्द्रराव ने ऐतिहासिक अवधारणा पर प्रो. डेविड पिंगरी की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये लिखा है कि प्रायः अब तक ग्रीक का पौलिश सिद्धान्त तथा बेविलोनिया का

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका १.४।

२. पञ्चसिद्धान्तिका १.४ (टीका कु.शा.)।

रोमक सिद्धान्त माना जाता रहा है। जिसके संग्रह का महान कार्य वराहमिहिर ने किया है। किन्तु डॉ. डेविड पिंगरी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है 'ये दोनों ग्रीक और बेविलोनियन सिद्धान्तों के मिश्रण है तथा इन पर प्रबल प्रभाव भारतीय सिद्धान्त का ही है।' ऐतिहासिक और शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार इन सिद्धान्तों के काल क्रम के विषय में भी मतान्तर हैं। कुछ लोगों ने अहर्गण प्रसंग में सप्ताश्विवेदसंख्यं के आधार पर इसे ४२७ शक का माना है, जो सर्वथा अनुचित है। शक ४२७ तो वराहमिहिर का काल है जिसमें उन्होंने पञ्चसिद्धान्तिका की रचना की। इन पाँचों सिद्धान्तों का अस्तित्व तो वराह से सुदूर पूर्व काल में भी रहा है। सभी ग्रन्थकार अपने काल के शक का ही प्रयोग अपने ग्रन्थ के उदाहरण में करते हैं। आचार्य वराहमिहिर ने भी पञ्चसिद्धान्तिका के अहर्गणानयन में "सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ"[१] पाठ दिया है। जो उनके काल के अनुसार संगत है। इस आनुषंगिक विवेचना के अनन्तर पाँचों सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है, जो इस प्रकार है —

**१. पैतामह सिद्धान्त –** यह सर्वाधिक प्राचीन है। आर्यभट और ब्रह्म गुप्त ने इसका उल्लेख किया है तथा यह भी स्वीकार किया है कि अत्यन्त प्राचीन होने के कारण यह त्रुटिपूर्ण हो गया है। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में लिखा है—

"ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम् ।
अभिधीयते स्फुटं तत् जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन॥१.२

उसी ब्राह्मसिद्धान्त को आधार मानकर ब्रह्मगुप्त ने अपना सिद्धान्त ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त नाम से लिखा है। इस प्रकार इतिहास के पृष्ठ पर अनेक ब्राह्मसिद्धान्त हो गये। १. ब्राह्मसिद्धान्त (पैतामहसिद्धान्त), २. शाकल्योक्त ब्राह्मसिद्धान्त, ३. विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत ब्राह्मसिद्धान्त, ४. ब्रह्मगुप्त का ब्राह्मसिद्धान्त। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शाकल्योक्त ब्राह्मसिद्धान्त एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण के ब्राह्मसिद्धान्त को ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मसिद्धान्त से परवर्ती माना है क्योंकि ये खिलीभूत नहीं है। अतः खिलीभूत ब्राह्मसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिकोक्त ही है।

इस पैतामह सिद्धान्त की उपलब्ध कुल ५ आर्यायें पञ्चसिद्धान्तिका के १२वें अध्याय में वर्णित है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मसिद्धान्त का कुछ भी विषय उपलब्ध नहीं है। इनमें से आरम्भ की दो आर्यायों में युगमान, अधिमास, क्षयदिन, एवं अहर्गण बतलाया गया है। जो इस प्रकार है—

रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।

अधिमासास्त्रिंशद्भिर्मासैरवमो द्विषष्ट्या तु॥१२.१

द्व्यूनं शकेन्द्रकालं पञ्चभिरुद्धृत्य शेषवर्षाणाम्।

द्युगणं माघसिताद्यं कुर्याद्द्युगणं तदहन्युदयात्॥१२.२

अर्थात् सूर्य और चन्द्र के ५ वर्षों का एक युग, तीस मासों के बाद एक अधिमास तथा ६२ दिनों पर एक क्षय दिन। कहीं कहीं पर 'त्रिषष्ट्या' पाठ होने से ६३ दिनों पर क्षय दिन ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार दो रहित शकेन्द्र काल से अहर्गण साधन की विधि दी गई है। शेष आर्यायों में दिनमान एवं नक्षत्र साधन की विधि दी गई है।

**२. वसिष्ठ सिद्धान्त–** पञ्चसिद्धान्तिका में वसिष्ठ सिद्धान्त की कुल १३ आर्यायें है इनमें सूर्य और चन्द्रमा के विषय में ही प्रमुख विवेचन है। अन्य ग्रहों का उल्लेख नहीं है किन्तु जो लग्न आदि के भी विषय दिये गये हैं वे सभी अन्य सिद्धान्तों से भिन्न हैं।

**३. रोमक सिद्धान्त –** इस सिद्धान्त के बहुत से अंश पञ्चसिद्धान्तिका में उपलब्ध हैं। अहर्गण साधन से लेकर अधिमास, क्षयमास एवं ग्रहण साधन तक का उल्लेख है। अहर्गण साधन यवनपुर (रोमक) में सूर्यास्तकालिक किया गया है। जो लंका का अर्धरात्रि कालिक होगा।

**४. पौलिश सिद्धान्त –** यह सिद्धान्त भी रोमक की तरह विस्तृत रूप से उपलब्ध है। पौलिश अहर्गण रोमक के आसन्न ही है। इसके अतिरिक्त सूर्य चन्द्र साधन, ग्रहों का मार्गत्व वक्रत्व, सूर्य-चन्द्र ग्रहण आदि का भी साधन यहाँ दिया गया है।

**५. सूर्य सिद्धान्त –** इस सिद्धान्त में सूर्य चन्द्र के साथ-साथ भौमादि ग्रहों का भी साधन किया गया है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि "स्पष्टतरः सावित्रः" तदनुसार सूर्य सिद्धान्त द्वारा सूर्य-चन्द्र ग्रहण एवं उदय अस्त आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा सूक्ष्म एवं सुस्पष्ट है।

इस प्रकार पञ्चसिद्धान्तिका में न्यूनाधिक रूप से पञ्च सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। अब इन सिद्धान्तों में जो मूल अन्तर है उन पर विचार करते हैं। सभी सिद्धान्तों में वर्षमान समान नहीं है सबमें कुछ न कुछ अन्तर है जो इस प्रकार है :—

| | **सिद्धान्त** | **वर्षमान** |
|---|---|---|
| १. | पितामह सिद्धान्त | ३६५/२१/२५ |
| २. | वसिष्ठ सिद्धान्त | अनुपलब्ध |
| ३. | पौलिश सिद्धान्त | ३६५/१५/३० |
| ४. | रोमक सिद्धान्त | ३६५/१४/४८ |
| ५. | सूर्य सिद्धान्त | ३६५/१५/३१/३० |

उक्त सन्दर्भ में म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि भट्टोत्पल ने पौलिश और सूर्य सिद्धान्त के वर्षमान को समान माना है। उक्त आंकड़ों के आधार पर दोनों में मात्र १/३० कलादि का अन्तर है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार सूर्य सिद्धान्त के वर्षमान ३६५/१५/३१/३० के आधार पर पञ्चसिद्धान्तिका में निर्दिष्ट काल शक ४२७ में मेष संक्रान्ति चैत्र कृष्ण १४ रविवार को ४८ घटी ९ पल पर रही होगी। अर्थात् मध्यम सूर्य का मान ० राशि ० अंश रहा होगा। तथा सूर्य का क्षेपक ११/२९/२७/२० उज्जैन के मध्याह्न काल का रहा होगा। पञ्चसिद्धान्तिका में "द्युगुणोऽर्कोष्टशतघ्ने" इत्यादि द्वारा क्षेपक का तो उल्लेख मिलता है, किन्तु रचना काल तथा स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु उक्त तथ्यों के आधार पर

पञ्चसिद्धिान्तिका काल शक ४२७ तथा रचना स्थल 'उज्जैन' सिद्ध होता है।

आचार्य ने ग्रन्थ के आरम्भ में पञ्चसिद्धान्तिका में प्रतिपाद्य विषयों का उल्लेख किया है, जो इनके वर्णन शैली.का अंग है। बृहत् संहिता में भी सभी प्रतिपाद्य विषयों को संहिता पदार्थाः शीर्षक के अन्दर प्रकाशित किया है। पंच-सिद्धान्तिका का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है :—

यत् यत् परमरहस्यं भ्रमति मतिर्यत्र तन्त्रकाराणाम्।

तदहमपहाय मत्सरमस्मिन् वक्ष्ये ग्रहं भानोः।

दिग्स्थितिविमर्दकर्णप्रमाण-वेलाग्रहाग्रहाविन्दोः ।

ताराग्रहसंयोगं देशान्तरसाधनं चाऽस्मिन्।

सममण्डलचन्द्रोदय-यन्त्रछेद्यानि शांकवच्छायाः।

उपकरणाद्यक्षज्यावलम्बकापक्रमाद्यानि।। पं. सि. १.५-७

प्राचीन पञ्चसिद्धान्तिका के समानान्तर नवीन पञ्चसिद्धान्तिका का भी उल्लेख है। जिसमें निम्नलिखित पाँच सिद्धान्त हैं :—

१. सूर्य सिद्धान्त २. सोम सिद्धान्त ३.वसिष्ठ सिद्धान्त

४. रोमश सिद्धान्त ५. ब्रह्म सिद्धान्त (शाकल्योक्त)

ये पाँच वराहकृत पञ्चसिद्धान्तिका से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें भी सर्वाधिक प्रसिद्ध सूर्य सिद्धान्त हो है। इनमें भगणादि मान स्वल्पान्तर से समान ही हैं। वर्तमान सूर्य सिद्धान्त इन सबसे भिन्न है। इस सूर्य सिद्धान्त को आर्ष माना जाता है। तथा सूर्यांश पुरुष से उपदिष्ट मयासुर द्वारा प्रतिपादित माना जाता है। सूर्य ने मयासुरं से स्वयं कहा था —

न मे तेज सहः कश्चिद् आख्यातुं नास्ति मे क्षणः।

मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति।। सू. सि. ६

इसकी काल गणना करने पर आज से २१६५१०६ वर्ष पूर्व उसका रचना काल सिद्ध होगा।

पञ्चसिद्धान्तिका में कुछ ऐसे आचार्यों का नामोल्लेख किया है जिनके सहज ज्ञान का आधार उपलब्ध नहीं है। यथा—

द्युगणादिनवाराप्तिः द्युगणोऽपि हि देशकालसम्बन्धात्।
लाटाचार्येणोक्तो यवनपुरेऽर्धास्तगे सूर्ये।
रव्युदये लंकायाम् सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहितः।
यवनानां निशि दशभिर्मुहूर्त्तैश्च तद् गुरुणा।।
लंकार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः।
भूयः स एव सूर्योदयात् प्रभृत्याह लंकायाम्।। १५-१८-२०

यहाँ लाटाचार्य, सिंहाचार्य, सिंहाचार्य के गुरु और आर्यभट के आहर्गणनयन का स्थान और काल बताया गया है। लाटाचार्य ने यवनपुर में सूर्यास्त कालिक (अर्थात् लंका मध्यरात्रि कालिक), सिंहाचार्य ने लंका में सूर्योदय कालिक, सिंहाचार्य के गुरु ने यवन (रोमक) में रात्रि के २० घटी का अहर्गण सिद्ध किया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्योतिष शास्त्र की अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ तथा उनके कर्ता आचार्य अन्वेषकों एवं इतिहासकारों की दृष्टि से ओझल हो चुके हैं। पञ्चसिद्धान्तिका को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वराहमिहिर के काल में ही ज्योतिष सिद्धान्त की स्थिति चिन्तनीय हो चुकी थी। अतः समग्र ज्योतिष शास्त्र को संग्रहीत, सुरक्षित एवं परिष्कृत करने का श्रेय आचार्य वराहमिहिर को ही है।



# ज्योतिष और भौगोलिक परिदृश्य-पौराणिक दृष्टि

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।

यस्यास्यकमलगलितममृतं जगत्पिबति।।

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव

पुत्रेति तन्मयतया तरवोभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोस्मि।।

पौराणिक साहित्य में महर्षि व्यास ने सृष्टि से लेकर सामाजिक व्यवस्था एवं जीवन पद्धति से जुड़े लगभग सभी पक्षों का समावेश कर दिया है। इसलिए पुराणों की प्रासङ्गिकता सभी दृष्टियों से सार्वकालिक है। भारतीय विद्याओं के सन्दर्भ में पुराणों को विश्वकोश भी कहा जा सकता है। क्योंकि सभी के सन्दर्भ यत्र तत्र पुराणों में उपलब्ध हैं। कृत्रिम आधान से कुन्ती के तीन पुत्रों की उत्पत्ति माद्री से यमल जन्म, गान्धारी के एक गर्भ से एकसौ पुत्रों तथा एक पुत्री की उत्पत्ति जैसे व्यास के अद्भुत कार्य उनकी वैज्ञानिक प्रतिभा के चरमोत्कर्ष के परिचायक हैं। महर्षि व्यास की सर्वाङ्गीण अप्रतिम प्रतिभा का दिग्दर्शन पुराणों में भलीभाँति होता है। सृष्टि प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए महर्षि ने विविध प्रसंगों में पृथ्वी और अन्तरिक्ष का यथार्थ चित्रण किया है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो भूगोल और खगोल को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने वाले ऋषियों में महर्षि व्यास का नाम अग्रपंक्ति में आता है।[१]

---

१. सूर्यः पितामहो व्यासः वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः।
रोमशःपौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः
शौनकोष्टादशश्चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः।।

कश्यपसंहिता (उ. ज्योतिषशास्त्रस्येतिहासः पृ. ९)

इनके द्वारा रचित साहित्य में वर्णन की प्रक्रिया कहीं कहीं आलङ्कारिक अवश्य है परन्तु अन्तर्निहित तत्व नितान्त वैज्ञानिक हैं। महर्षि ने महाराजा पृथु की कथा के माध्यम से पृथ्वी की प्रारम्भिक स्थिति का निरूपण किया है। पृथु ने ही विषम भूमि को वास योग्य समतल बनाया तथा खर्वट, ग्राम, नगर, झील एवं तालाब आदि का सर्वप्रथम निर्माण किया। उसी समय से भूगोल की परिकल्पना आरम्भ हुई। भूगोल को दो भागों में विभक्त कर निरूपति किया गया है। १. भारतवर्ष या जम्बूद्वीप का, २. पृथ्वी (विश्व) का भूगोल। आधुनिक चिन्तकों के मतानुसार विश्व के भूगोल के अन्तर्गत केवल पूर्वी गोलार्ध का ही भूगोल वर्णित है। पश्चिमी गोलार्ध को पाताल के रूप में वर्णित किया गया है। पाताल के लिए प्रायः यह धारणा रही है कि जल में प्रविष्ट होकर लोग पाताल जाते थे। इस कल्पना में यथार्थता निहित है। यदि पश्चिम गोलार्ध को पाताल माना जाय तो वहाँ पहुचने का साधन एक मात्र जल मार्ग ही था। पृथ्वी के गोल होने से जल में कुछ दूर तक जाने पर जलयान अदृश्य हो जाता था। इस घटना से लोग समझते थे कि यात्री जल के भीतर प्रविष्ट होकर पाताल चले गये। जहाँ तक मैं समझता हू दुर्गम होने के कारण पाताल भूमि का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया। उसकी अपेक्षा सम्मुखस्थ पूर्वी गोलार्ध का विस्तृत विवेचन किया गया।

पूर्वी गोलार्ध को सात महाद्वीपों एवं सात समुद्रों में विभक्त किया गया है। जिनके नाम हैं— १.जम्बू द्वीप, २. प्लक्षद्वीप, ३. शाल्मलद्वीप, ४. कुशद्वीप, ५. क्रौञ्चद्वीप, ६. शाकद्वीप, और ७. पुष्करद्वीप।

ये द्वीप एक-एक समुद्र से घिरे हुए है। जम्बू द्वीप क्षार समुद्र से प्लक्षद्वीप इक्षुरस समुद्र से शाल्मल द्वीप सुरा समुद्र से, कुश द्वीप घृत समुद्र से, क्रौञ्च द्वीप दधि समुद्र से, शाक द्वीप क्षीर सागर से तथा पुष्कर द्वीप सुस्वादु जल (समुद्र) से आवृत है।[1]

इनके विस्तार के सम्बन्ध में पुराणों में कहा गया है। कि जम्बू द्वीप का विस्तार एक लक्ष योजन है तथा अन्य द्वीप अपने पूर्व द्वीप से दोगुने विस्तार

---

१. कूर्म पुराण ४३.२-५

में है। अर्थात् जम्बूद्वीप से दोगुना (२लक्षयोजन) लक्षद्वीप, प्लक्ष से दोगुना (४ लक्षयोजन) शाल्मल द्वीप इत्यादि। यहाँ द्विगुण कहने का कारण मेरी दृष्टि में यही है कि एक द्वीप दूसरे द्वीप के ऊपर चतुर्दिक वृत्ताकार कहा गया है। अत: केन्द्र से चतुर्दिक विस्तार स्वभावत: द्विगुणित होता जायेगा गणितीय सिद्धान्तानुसार। अर्थात द्वितीय वृत्त के विस्तार में प्रथम वृत्त का विस्तार (परवर्ती वृत्त के व्यास में पूर्ववर्ती वृत्त का व्यास भी जुड़ा रहता है) सम्मिलित होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक द्वीप का विस्तार समान होगा किन्तु मध्यस्थ वृत्त के केन्द्र से उत्तरोत्तर द्वीपवृत्तों का विस्तार द्विगुणित होता जायेगा। यदि द्वीपों की स्थिति इसी प्रकार स्वीकार करें तो प्रत्येक द्वीप की स्थिति भूमण्डल पर चतुर्दिक वृत्ताकार होगी। इसी प्रकार समुद्रों की भी स्थिति चतुर्दिक वृत्ताकार ही होगी। परन्तु व्यवहार में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। आज के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध भूगोल वेत्ताओं की दृष्टि में उक्त द्वीपों की स्थिति भूमण्डल पर इस प्रकार है —[१]

| क्र. सं. | द्वीप | गेरिनी | विल्फोर्ड | अय्यर | एस. एम. अली |
|---|---|---|---|---|---|
| ०१ | जम्बू द्वीप | भारतीय उपमहाद्वीप | मुख्य भारत | मुख्य भारत | दक्षिण भारत से साइबेरिया तक |
| ०२ | कुशद्वीप | सुण्डा द्वीप समूह | इरान व अफगानिस्तान | इरान, इराक, अरेबिया, इथोपिया | फारस, मेसपोटामियाँ, एवं निकटवर्ती क्षेत्र |
| ०३ | प्लक्षद्वीप | अराकान और ब्रह्मा | एशिया माइनर (तुर्की) | यूनान | भूमध्यसागरीय प्रदेश |
| ०४ | क्रौञ्च द्वीप | दक्षिणी चीन प्रदेश | यूरोप | एशिया माइनर | यूराल से पश्चिमी यूरोप प्रदेश |
| ०५ | शाल्मलि द्वीप | मलाया द्वीप समूह | मध्य एवं दक्षिणी यूरोप | सरमाटिया | मध्यवर्ती पूर्वी तटीय अफ्रीका के मानसूनी प्रदेश |
| ०६ | शाकद्वीप | कम्बोज एवं थाईलैण्ड | ब्रिटिश द्वीप समूह | स्किथिया (दक्षिणी तुर्किस्तान) | दक्षिणी-पूर्वी एशिया के मानूसनी प्रदेश |
| ०७ | पुष्करद्वीप | उत्तरी चीन एवं मञ्चूरिया | आइस लैण्ड | स्किथिया का निकटवर्ती प्रदेश | तटीय पूर्वीचीनं, जापान एवं मञ्चूरिया |

इसी प्रकार सात समुद्रों के विषय में भी भूगोल वेत्ताओं की लगभग मिलती

१. भौगोलिक चिन्तन एवं विधितन्त्र पृ. १५०-१५१

जुलती राय है। प्रायः सभी लोगों ने सभी सागरों को पूर्वी गोलार्ध में ही सुनिश्चत किया है। यद्यपि पुराणोक्त समुद्रों के तारतम्य और परिमाण से आधुनिक विचारधारा का किसी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं है फिर भी उनके विचार, जो आज प्रचलित हैं, पुनः विचारार्थ एवं अवलोकनार्थ यहाँ उद्धृत हैं।[1]

| क्र. सं. | सागर-नाम | अर्थ | निकटवर्ती द्वीप |
|---|---|---|---|
| ०१ | क्षारोद | लवण सागर (अधिक खारे पानी वाला सागर) | जम्बूद्वीप |
| ०२ | इक्षुरसोद | गन्ने के रस जैसे गहरे रंग वाला सागर | प्लक्षद्वीप |
| ०३ | सुरोद | सुरा की भाँति हल्के रंग वाला | शाल्मलि |
| ०४ | क्षीरोद | दुग्ध की भाँति (विशेष अशान्त सागर जिसमे तूफान से झाग निकलते हों | क्रौञ्च और शाक द्वीप के बीच |
| ०५ | घृतोद | घृत की भाँति (जो सागर पिघले घी की भाँति दीखता हो। सतह पर श्वेत परत हो तथा शान्त समुद्र हो। | कुश |
| ०६ | दधिसागर | दही जैसा (जहाँ का सागर जल शीत ऋतु में या वर्ष में अधिक समय तक बर्फ के रूप में जमा हो। | क्रौञ्च |
| ०७ | स्वादूदकसागर | शुद्धजल वाला (जो सागर मीठेजल वाला हो या खारा नगण्य हो। | पुष्कर |

इन समुद्रों की स्थिति के सम्बन्ध में भी आधुनिक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। यद्यपि ये विचार पौराणिक समुद्रों के स्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं फिर भी आधुनिक विचारधारा ने पौराणिक भूगोल को अपनी दृष्टि से चित्रित करने का प्रयास किया है,जो इस प्रकार है—

१. इक्षु सागर = सीमोर सागर, २. सुरा सागर = अटलाणटिक सागर, ३. घृतसागर = हडसनसागर, ४. दधिसागर = अण्टार्कटिक सागर, ५. क्षीरसागर = ह्वाइटसागर, ६. स्वादूदकसागर = रूमसागर, ७. क्षारसागर = हिन्दमहासागर।[2]

१. भौगोलिक चिन्तन एवं विधितन्त्र पृ. १५३

२. पुराण दिग्दर्शन पृ. ७५७

प्राच्य-पाश्चात्य दोनों विधाओं के ज्ञाता कृष्णमाचार्यलु ने उक्त विद्वानों से कुछ भिन्न मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

१.जम्बू द्वीप = जम्बू-कश्मीर एवं पंजाब, २. प्लक्षद्वीप = वर्तमान फारस देश, ३. शाल्मलिद्वीप = उत्तर-पूर्व अफ्रीका,

४. कुशद्वीप = यूनान का चतुर्दिकक्षेत्र, ५. क्रौञ्चद्वीप = यूरोप, ६. शाकद्वीप = रूस-साइबेरिया, ७. पुष्करद्वीप = बुखारा क्षेत्र।

अन्य द्वीपों की अपेक्षा कुशद्वीप, शाकद्वीप और जम्बूद्वीप का विस्तृत विवेचन पुराणों में मिलता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पुराणविमर्श में उक्त द्वीपों का वर्णन करते हुये लिखा है— कप्तान स्पीक ने पुराणस्थ संकेत को आधार मान कर ही मिस्त्र देश में बहनेवाली अफ्रीका की नील नदी के उद्गम का पता लगाया। पुराण में नदी का उद्गम स्थान कुशद्वीप बतलाया गया है। कुशदेश तथा कुश लोगों का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट दारियबहू के अनेक फारसी अभिलेखों में मिलता है (५२२-४८६ ईस्वीपूर्व)। कुशद्वीप को आधुनिक नूबिया मानकर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्त्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक भूगोलीय यथार्थता का विजयघोष है।[१]

पुराणों में जम्बूद्वीप का वर्णन प्रायः बृहत्तर भारतभूमि को प्रदर्शित करता है। इतिहासकारों के मतानुसार पुराण काल के परवर्तीकाल में जम्बूद्वीप के नव वर्षों में भारत के समीपवर्ती क्षेत्रों को सम्मिलित कर लिया गया। किन्तु यह धारणा सर्वथा उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि नव वर्षों में एक भारत वर्ष भी है। इससे स्पष्ट है कि भारत वर्ष की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है जिसकी स्थिति जम्बूद्वीप के दक्षिण मे है शेष तीन दिशाओं में जम्बू द्वीप के अन्य वर्षो की स्थिति है, जिसकी स्थिति जम्बूद्वीप के दक्षिण में है, शेष तीन दिशाओं में जम्बू द्वीप के अन्य वर्षों की स्थिति है। अतः समीपवर्ती देश जम्बूद्वीप के अन्तर्गत आते हैं न कि भारतवर्ष के।

पुराणों की तरह ही ज्योतिष ग्रन्थों में भी सप्तद्वीपा वसुमती का वर्णन

---

१. पुराण विमर्श पृ. ३१७

भुवनकोश के अन्तर्गत किया गया है। यथा—

भूमेरर्धं क्षारसिन्धोरुदक्स्थं जम्बूद्वीपं प्राहुराचार्यवर्याः।
अर्धेऽन्यस्मिन् द्वीपषट्कस्य याम्ये क्षारक्षीराद्यम्बुधीनां निवेशः।।
लवणजलधिरादौ दुग्धसिन्धुश्च तस्मादमृतममृतरश्मिः श्रीश्च यस्माद्बभूव।
महितचरणपद्मः पद्मजन्मादिदेवैर्वसति सकलवासो वासुदेवश्च यत्र।।
दध्नो घृतस्येक्षुरसस्य तस्मान्मद्यस्य च स्वादुजलस्य चान्त्यः।
स्वादूदकान्तर्वडवानलोऽसौ पातालालोकः पृथ्वीपुटानि।।
चञ्चत्फणामणिगणांशुकृतप्रकाशा एतेषु सासुरगणाः फणिनो वसन्ति।
दीव्यन्ति दिव्यरमणीरमणीयदेहैः सिद्धाश्च तत्र च लसत्कनकावभासैः।।
शाकं ततःशाल्मलमत्र कौशं क्रौञ्चं च गोमेदकपुष्करे च।
द्वयोर्द्वयोरन्तरमेकमेकं समुद्रयोर्द्वीपमुदाहरन्ति।।[1]

इस प्रकार पुराण एवं ज्योतिष दोनों में जम्बू द्वीप के क्षेत्रों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

भारतवर्ष से उत्तर में किन्नर वर्ष उससे उत्तर हरिवर्ष, विपरीत दिशा अर्थात् सिद्धपुर से उत्तर क्रम से कुरुवर्ष, हिरण्यवर्ष, तदनन्तर रम्यक वर्ष। पूर्व दिशा से अर्थात् यमकोटि से उत्तर माल्यवान् तथा सबसे उत्तर मध्य मे मेरु पर्वत स्थित है जिसे इलावृत वर्ष भी कहा जाता है।[2]

इस प्रकार के वर्णन से जम्बूद्वीप का क्षेत्र सम्पूर्ण उत्तर गोलार्ध हो जाता है। इस लिए पौराणिक भूगोल को यथावत समझना सहज नहीं है। पुराणों में गिनाये गये जनपदों को भी उनके नाम और स्थिति के अनुसार आज चिह्नित करना अत्यन्त दुष्कर है। परन्तु इतना तो निर्विवाद सत्य है कि पुराणों ने भूगोल की एक दृढ़ आधार शिला रख दी थी, जिसमें जनपदों, नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों एवं कृषि कर्म के साथ-साथ पशु-पक्षियों का भी उल्लेख किया गया है।

१. सिद्धान्तशिरोमणि गो. भु. को. २१-२५
२. सिद्धान्तशिरोमणि गो. भु. को. २६-२८, एवं पुराण विमर्श पृ. ३३०

भूगोल के अतिरिक्त खगोलीय विषयों की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमे प्रचुर सामग्री पुराणों में उपलब्ध होती है। खगोल को भी कहीं रूपकों के द्वारा, कहीं स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। यथा दक्षप्रजापति की कथा कई खगोलीय सूचनायें देती हैं। प्रजापति दक्ष को ६० कन्यायें थीं।[१] जिनमें से १० कन्यायें धर्म को दी अर्थात् उन कन्याओं का विवाह धर्म से किया। २७ कन्याओं का विवाह चन्द्रमा से किया। ये कन्यायें २७ नक्षत्रों की सूचक हैं। चन्द्रमा जिस नक्षत्र पर जिस दिन होता है वही नक्षत्र उस दिन का नक्षत्र माना जाता है। इस दृष्टि से नक्षत्रों को चन्द्रपत्नी मानना तर्कसंगत है। चन्द्रमा को शाप के प्रभाव से क्षयी होना तथा वरदान से पुनःक्रमशः वर्धित होकर स्वस्थ होना चन्द्रमा की कलाओं की ह्रास-वृद्धि का सूचक है। चन्द्रमा और तारा से बुध की उत्पत्ति का अभिप्राय यही होगा कि बुध को प्रथम बार पुष्य नक्षत्र पर देखा गया होगा। ऐसी स्थिति में चन्द्रमा, पुष्य नक्षत्र तथा बुध एक साथ देखे गये होंगे। इसी तरह का एक और अत्यन्त रोचक और विज्ञान को चमत्कृत करने वाला प्रसंग है।

श्रीमद्भागवत[२] में भगवान व्यास ने लिखा है कि प्रजापति शिंशुमार की पुत्री भ्रमी का विवाह ध्रुव से हुआ तथा उनसे कल्प और वत्सर नामक दो पुत्र हुए।

प्रजापतेर्दुहितरं शिंशुमारस्य वै ध्रुवः।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ।।

यह सर्वविदित है कि कल्प और वत्सर काल की इकाई हैं। इनकी उत्पत्ति भूभ्रमण से होती है। आगे का प्रसंग कालविज्ञान को आगे बढ़ाता है[३]—

स्ववींथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान्।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम्।।

---

१. ददौ दश धर्माय कश्यपाय त्रययोदश।
सप्तविंशति सोमाय चतस्रोरिष्टनेमिने।। अग्नि पुराण १८.२९-३०

२. श्रीमद्भागवत पुराण ४.१०-१

३. श्रीमद्भागवत पुराण ४. १३-१२

अर्थात् वत्सर की भार्या स्वरवीथी ने पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु, और जय नामक छः पुत्रों को जन्म दिया। यहाँ स्वरवीथि भूकक्षा है तथा पुष्पार्ण आदि छः पुत्र पृथ्वी की स्थिति, अक्षवक्रत्व, भ्रमण आदि विभिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं। इन छः पुत्रों को छः ऋतुओं के रूप भी ग्रहण किया जा सकता है। पुष्पार्ण की प्रभा और दोषा नामक दो पत्नियाँ हैं। यहाँ पुष्पार्ण भूमण्डल की स्थिति तथा प्रभा दिवस और दोषा रात्रि की सूचक है। प्रभा से प्रातः, माध्यन्दिन और सायम् नामक तीन पुत्र हुए तथा दोषा नाम की भार्या से प्रदोष निशीथ और व्युष्ट नामक तीन पुत्र हुए।

पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः।।
प्रदोषो नीशीथो व्युष्ट इति दोषा सुतास्त्रयः।
व्युष्टसुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे।।[१]

इस प्रकार एक पारिवारिक प्रसंग प्रदर्शित करते हुए अत्यन्त रोचक ढंग से दिन-रात्रि एवं उनके विभागों को प्रतिपादित किया है। भूभ्रमण को स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुए महर्षि ने लिखा है—

उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि।
सैष भ्रमन्भ्रामयते चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह।।[२]

यहाँ सुस्पष्ट है कि समस्त सौरमण्डल ध्रुव की परिक्रमा करता है। इसी सौर मण्डल का एक सदस्य यह भूमण्डल भी है जो सर्व विदित है। इसी प्रकार अनेक रोचक कथानकों की ज्योतिषशास्त्रीय व्याख्या भूभ्रमण, काल सिद्धान्त नक्षत्रचक्र एवं अन्तरिक्ष की घटनाओं को व्यक्त करती हैं। कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं जो विना किसी कथानक के सीधे ज्योतिषशास्त्र का विवेचन करते हैं। जैसे ग्रहों की कक्षाओं का वर्णन है। यहाँ एक बहु चर्चित प्रसङ्ग उद्धृत करना आवश्यक है। प्रायः सभी पुराणों में कहा गया है कि लक्षयोजन ऊपर सूर्य की कक्षा है, उससे लक्ष योजन ऊपर चन्द्रमा की कक्षा है[३]। अधिकांश लोगों ने

१. श्रीमद्भागवत पुराण ४.१३.१३-१४

२. मत्स्यपुराण १२५.५-६

३. विष्कम्भान्मण्डलाच्चैव भास्करात् द्विगुणः शशी।। मत्स्यपुराण १२४.८

इस वर्णन को असङ्गत बतलाया है। किन्तु मेरी दृष्टि में नितान्त सङ्गत है, क्योंकि पृथ्वी से सूर्य की दूरी यदि एक लाख योजन है तो सूर्य से चन्द्रमा की दूरी एक लाख योजन होना स्वाभाविक है। अन्य ग्रहों की कक्षाओं में कोई विवाद नहीं है। सूर्य से एक लाख योजन दूर चन्द्र की कक्षा का उल्लेख यह भी संकेत देता है कि महर्षि व्यास ने सूर्य को केन्द्र मानकर चन्द्र की कक्षा का उल्लेख किया है।

पुराणों में जहाँ एक ओर रूपकों के माध्यम से ज्योतिष का विवेचन है वहीं कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ स्पष्ट रूप से ज्योतिष की चर्चा की गई है। सभी का संकलन एक निबन्ध में सम्भव नहीं है। अतः यहाँ संकेत मात्र प्रस्तुत किया गया है।



# वैदिक संस्कृति में गौ एवं गव्यों का महत्व

वैदिक साहित्य में गौ का अत्यन्त आदरणीय स्थान है। गौ शब्द का प्रयोग पृथ्वी और सूर्य रश्मियों के लिए भी किया गया है। समस्त जैविक सृष्टि का आधार सूर्य और पृथ्वी ही है। सभी प्रकार के जीव-जन्तु एवं वनस्पतियाँ सभी पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं तथा सूर्य रश्मि के सहयोग से पृथ्वी द्वारा उनका भरणपोषण होता है। इन दोनों प्रधान सृष्टि स्त्रोतों के प्रतिनिधि के रूप में गौ को माना जाता है। जब-जब पृथ्वी पर सन्तुलन बिगड़ता है भौतिक उत्पातों की वृद्धि होती है। जीवन असुरक्षित हो जाता है। तब-तब पृथ्वी गौ का रूप धारण कर सृष्टिकर्त्ता के समक्ष उपस्थित होती है। ऐसे अनेक अवसरों के उल्लेख पुराणों में उपलब्ध है। जिनसे गौओं की श्रेष्ठता परिलक्षित होती है। एक वैदिक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि पहले गौओं की सृष्टि नहीं थी जब उनकी महती आवश्यकता समझी गई तब ऋषियों ने "आङ्गिरा" ऋषि से गौ प्राप्ति के लिए अनुरोध किया। आङ्गिरा ने घोर तपस्या कर गौओं को प्राप्त किया।[१]

उत्पत्ति के बाद सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने गौओं को आशीर्वाद के साथ आदेश दिया कि " हे धनवान गो समूह?अपने दोहन स्थान में एवं दोहन के बाद विचरण स्थान में सुख पूर्वक रमण करो। इस लोक के सभी क्षेत्रों में, अपने पालक के घर में तेज के साथ निवास करो "अन्यत्र न जाओ"।[२]

वैदिक काल में यज्ञ प्रमुख कर्म थे। यज्ञों के प्रभाव से प्राकृतिक सन्तुलन बना रहता है तथा सुभिक्ष एवं सुवृष्टि से समाज सुखी और सम्पन्न रहता है। इन सभी यज्ञों में हवि गव्य से विशेष रूप से दूध और घृत से तैयार की जाती

---

१. "या आङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्य: महि शर्म यच्छ" ऋग्वेद १०।१६२।२

२. "रेवती रमध्वमस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिल्लोकेऽस्मिन् क्षये। इहैव स्त मापगाते।" शु.म.स. ३.२१

थी। गोमय के कण्डों पर अग्नि का आवाहन होता था तथा गोमय के उपलों पर ही 'पुरोडाश' पकाया जाता था। अन्य गव्य यथा गोमूत्र स्थान एवं शरीर शोधन हेतु प्रयोग होते थे। इस प्रकार यज्ञ में सभी गव्यों (दूध, दही, घृत-गोमय-गोमूत्र ) का प्रयोग होता रहा है। गौओं के रखने (बाँधने) के स्थान को गोष्ठ कहा ज़ाता था। जिस क्षेत्र में गोचारण होता था उसे भी गोष्ठ ही कहा जाता था। जहाँ गायों का दोहन होता था उस स्थान को 'योनि' कहा जाता था।

गायों के रक्षक देवता का नाम 'पूषा' है। इन्हें 'अनष्ट पशु' भी कहा जाता है। 'पूषा' सूर्य के अनेक नामों में एक है। ऋग्वेद में इसका इस प्रकार उल्लेख है — "अनष्ट पशु पूषा लोकों में विचरण करने वाली गौओं (पशुओं) की रक्षा करें।[१]

**गौओं की संज्ञा एवं वर्ण (रंग)** — प्राय: चार वर्ण (रंग) की गौओं का उल्लेख मिलता है। १. रोहित (लाल), शुक्र (सफेद) ३. पृश्नि (चित्रित या चितकबरी), ४. कृष्णा (काली)। गौओं को उनके वर्णों से भी माना जाता था। अर्थात् वर्ण ही उनके नाम भी हो जाते थे यथा— रोहित, शुक्र, कृष्णा आदि।

वर्ण के अतिरिक्त इनके वर्गीकरण का आधार इनकी विभिन्न अवस्थाएं भी थी। यथा — सफेद गाय की संज्ञा 'कर्कि', गर्भिणी गाय की 'गृष्टि', दूध देने वाली की 'धेना या धेनु', बन्ध्या (जो प्रजनन योग्य नहीं होती) को 'स्तरी' या धेनुष्टरी', (जिसे केवल एक ही बच्चा हो काकबन्ध्या अर्थात एक सन्तान के बाद पुन: प्रजनन न हो) या 'सूतवत्सा' जिसका गर्भपात होता हो उसकी 'वेहत्' संज्ञा होती है। जिस गाय का बछड़ा जन्म लेकर नष्ट हो जाय तथा बछड़े के अभाव में वह गाय दूध न देती हो किन्तु कृत्रिम बछड़े को भी देखकर दूध देती हो उसे 'वान्या या निवान्या" कहा जाता था। इस प्रकार प्रकृति के अनुसार सात वर्गों में गायों का वर्गीकरण किया गया है। इतना ही नहीं समूह में से विशिष्ट गायों की पहचान के लिए उनके शरीर पर कुछ चित्र अंकित किए जाते थे। उन्हीं चित्रों के नाम से उन गायों का भी नामकरण होता था। यथा— जिस गाय के शरीर पर वंशी का चिन्ह होता था उसे कर्करिण्य,

---

१. "पूषा त्वेतश्चाव्यतु प्रविद्वानवनष्टपशुर्भुवनस्य गोपा:। " १०।९६।३

संज्ञा दी जाती थी। जिसके शरीर पर हंसिया का चिन्ह हो उसे दात्र करिण्य, स्तम्भ का चिन्ह हो तो स्थूल करिण्य, तथा आठ अंक का चिन्ह हो तो उसे अष्टकरिण्य या अष्ट कर्णि कहा जाता था। अपनी-अपनी गायों की पहचान के लिए प्राय: सभी लोग उनके शरीर पर कोई न कोई चिन्ह लगा देते थे। उन्हीं चिन्हों के नाम से गौओं को पुकारते भी थे।

कुछ इस प्रकार की संज्ञाओं का भी उल्लेख वेदों में मिलता है, जिनसे उनकी (गाय-बछड़ों की) आयु का ज्ञान होता है। यथा दुध मुंहे बच्चे को 'धरण' कहा जाता था। इसी प्रकार १½ वर्ष की बछड़ी को 'त्र्यवि' तथा बछड़े को 'त्र्यैवी' कहा जाता था। इस प्रकार के नामों (संज्ञाओं) से बछड़ों की आयु का भी ज्ञान हो जाता था। आयुबोधक संज्ञाओं की सूची निम्नलिखित है।

| **आयु** | **गाय (बछड़ी)** | **बैल (बछड़ा)** |
|---|---|---|
| सद्य: जात (दुधमुहाँ) | धरण | धरण |
| १½ | त्र्यवि | त्र्यैवि |
| २ ” | दित्यौही | दित्यवाह |
| २½ ” | पञ्चावी | पञ्चावी |
| ३ ” | त्रिवत्सा | त्रिवत्स |
| ३½ ” | तुर्यौही | तूर्यवाह |
| ४ ” | प्रष्टौही | प्रष्ठवाह |
| युवा बैल को | — | ऋषभ, वृष |
| गाड़ी खीचने वाले बैल को | — | अनड्वान |
| बधिया बैल को | — | महानिरष्ट |

**गोदोहन** – दिन में तीन बार गोदोहन होता था। तीनों संध्या काल गोदोहन काल होता था। प्रात: कालीन दोहन को प्रातर्दोह, मध्याह्न काल के दोहन को संगव दोह तथा सायंकालीन दोहन को सायंदोह कहा जाता था।[१]

'संगव' दोह का शाब्दिक अर्थ मध्याह्न काल का सूचक नहीं है। अत: सम्भव है संगव काल में ही दोहन होता रहा हो। 'संगव' काल मध्याह्न और

---

१. तै. स. ७।५।३।१

प्रात:काल के बीच का काल होता था।

**सामाजिक मान्यता–** गाय को सम्पत्ति का मानक माना जाता था। इसलिए आज भी इसे 'गोधन' कहा जाता है। एक बार वामदेव ऋषि ने क्रोध में आकर पूछा कि वह कौन है जो मेरे इन्द्र को १० गायों में खरीदना चाहता है।[१] यह तो हजार या दस हजार गायों से भी नहीं खरीदा जा सकता। शतपथ ब्राह्मण भी गायों को सम्पत्ति का सूचक मानता है। दक्षिणा के रूप में द्रव्य के स्थान पर गायों को देने का निर्देश देता है।[२]

ऋग्वेद तो गायों को धन ही नही अपितु, सर्वस्व ही मानता है। कहा गया है — गाय ही सूर्य है, गाय ही इन्दु है गाय ही सर्वस्व है[३] इत्यादि। इस प्रकार गायों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए गौ की प्रार्थना की गई है — "गायें मेरे आगे हों। मेरे पीछे हो, गाय ही मेरा हृदय हो। हम सदैव गायों के बीच में निवास करें।[४]

अभिप्राय यही कि हमारे लिए सभी प्रकार से उपयोगी, सम्पत्ति सूचक तथा गव्यों के कारण यज्ञ आदि में अत्यन्त उपयोगी गायें हमारे पास सदैव प्रभूत मात्रा में रहें।

प्राचीन काल में स्पष्ट मान्यता थी कि 'यज्ञ' लोक कल्याण हेतु अत्यन्त आवश्यक हैं। यज्ञ से ही बादल बनते हैं। बादलों से वृष्टि होती है तथा वृष्टि से ही अन्न उत्पन्न होते हैं।[५] आज भी विविध प्रयोगों द्वारा यज्ञ की सार्थकता सिद्ध हो रही है। तथा अन्नोत्पादन में भी यज्ञ की अनुकूल भूमिका सिद्ध हो रही है।

अन्न की आवश्यकता— महर्षि पराशर ने लिखा है कि अन्न ही प्राण है

---

१. क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभि:। ४।२४।१०

२. महेचन त्वामद्रिव: परा शुल्काय देयम्।
न सहसाय नाप्रताय वाजिनो न शताय शतामथ। श. ब्रा.

३. अ. वे. ६।२८।५

४. गावो मे अग्रत: सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठत: गावो मे हृदय: सन्तु, गवां मध्ये वसाम्यहम्।

५. यज्ञाद् भवति पर्जन्य: पर्जन्याद्न्नसम्भव:।

६. अन्नं प्राणा बलं चान्नं अन्नं सर्वार्थसाधनम्।
देवासुरमनुष्याश्च सर्वे चान्नोपजीविन:।। कृ. पा. १.६

अन्न ही बल है, अन्न ही सभी कार्यों का साधक है। न केवल मनुष्य ही अपितु देवता और असुर आदि सभी का जीवन अन्न पर ही आश्रित है।[६]

कण्ठ में, कानों में, तथा हाथों में यदि स्वर्ण आभूषण हो तो भी अन्न के अभाव में उपवास ही होगा।[१] इसलिए कृषक को कृषि हेतु सावधान तथा स्वयं समर्पित रहना चाहिए। कृषि पाराशर में कहा गया है कि —

पितुरन्तः पुरं दद्यात् मातुर्दद्यान्महानसम्।

गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत्॥ ३.२

अर्थात् - पिता को अन्तःपुर (गृह की) सुरक्षा में लगा दें, माता को रसोई (किचन) में लगा दें। अपने समान व्यक्ति को गौओं की देखभाल में लगा दे तथा कृषि के लिए स्वयं ही जाना चाहिए। अर्थात् कृषि को दूसरों के आश्रित नहीं करना चाहिये। और भी कहा है —

गोहितः क्षेत्रगामी च कालज्ञो बीजतत्परः।

वितन्द्रः सर्वसस्याढ्यः कृषको नावसीदति। कृ.पा. ३.५

गौओं का हित चाहने वाला, प्रतिदिन अपने खेतों पर जाने वाला कृषिकर्म योग्य काल जानने वाला, बीज विशेषज्ञ कृषक कभी भी कष्ट नहीं पाता।

गोशाला— जिसकी गोशाला मजबूत गोबर से रहित सदैव साफ सुथरी होती है उसके गाय बैल बिना पौष्टिक आहार के भी सदैव स्वस्थ एवं प्रसन्न रहते हैं।[२]

इस प्रकार गोशाला, गोमय कूट, खाद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। उनके विस्तार में न जाते हुए अब गव्यों के विवेचन पर प्रकाश डालते हैं।

---

१. कण्ठे कर्णे च हस्ते च सुवर्णं विद्यते यदि।
उपवासस्तथापि स्यादन्नाभेवन देहिनाम्॥ १.५

२. द्र. कृषि पाराशर ३.०

३. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु पवित्रं मुनिपुङ्गवैः॥

**गव्य** – गाय से प्राप्त होने वाले पदार्थों को गव्य कहते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं।३

१. गोमूत्र, २. गोमय, ३. गो दुग्ध, ४. दहि, ५. घृत।

इनमें कुशोदक मिला देने सुरक्षित एवं शुद्ध पञ्च गव्य हो जाता है। पञ्च गव्य में वरुणआदि देवों का निवास माना जाता है। इसलिए इसके पान से आत्मशुद्धि तथा भूमि पर छिड़कने से भूमि की शुद्धि होती है। इसके निर्माण की विधि शास्त्रों में निम्नक्रम से दी गई है —

| | | |
|---|---|---|
| गोमूत्र | = | १ पल |
| गोमय | = | अंगुष्ठ की मोटाई का आधा |
| दूध | = | ७ पल |
| दही | = | ३ पल |
| घृत | = | १ पल |
| कुशोदक | = | १ पल |

पलमात्रं तु गोमूत्रं अंगुष्ठार्ध तु गोमयम्।
क्षीरं सप्तपलं ग्राह्यम् दधि त्रिपलमीरितम्॥
सर्पिस्त्वेकपलं देयमुदकं पलमात्रकम्॥

**पञ्चामृत** - गाय का दूध, दधि, घृत, मधु और शर्करा। इनके मिश्रण को पञ्चामृत कहा गया है। पञ्चगव्य और पञ्चामृत दोनों ही आत्मशुद्धि के पदार्थ होने के साथ-साथ यज्ञीय प्रमुख पदार्थ भी हैं। गाय के दूध में बने पुरोडास को दूध, दही और घृत से युक्त कर देने पर 'सान्नाय' नामक हविष्य बनता है। इसी हविष्य से दर्श और पौर्णमास यज्ञों में आहुतियाँ दी जाती हैं।

पञ्चगव्य और पञ्चामृत के स्नान करने तथा इनका पान करने से बाह्य-आन्तरिक और आध्यात्मिक शुद्धि के साथ-साथ शारीरिक बल एवं सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

**पञ्चगव्यों का उपयोग –**

१. घृत — दीर्घायु की कामना से अग्नि में घृत की लक्षसंख्यक आहुति दी जाती है।[१]

२. घृत के सेवन से बल और ओज की वृद्धि होती है। साथ ही साथ व्रण आदि के उपचार में भी घी का प्रयोग होता है। अन्धक-शिव युद्ध में अन्धक क्षत विक्षत हो जाने पर शिव का रूप धारण कर पार्वती के पास जाता है। उसे देख पार्वती ने अपने दासियों से कहा — पुराना घी, बीजिका, लवण और दही लाओ मैं स्वयं शिव के व्रणों का उपचार करूँगी।[२]

**घृत की परिभाषा और लक्षण–**

'पक्वनवनीतं घृतम्' अर्थात् पके हुए मक्खन को घृत (घी) कहते हैं। घृत स्वाद में मधुर होता है। यह बुद्धि, शुक्र, ओज, स्मृति और कफ को बढ़ाने वाला तथा वात-पित्त-विष, उन्माद, शोथ और दारिद्र्य को दूर करने वाला है।[३]

**पुराने घृत का लक्षण –** दस वर्ष पुराना घृत उग्रगन्ध युक्त तथा लाक्षारस के समान होता है। इसे पुराण घृत कहते हैं। दसवर्ष से अधिक पुराना होने पर उसे 'प्रपुराण घृत' कहते हैं।

कॉस्य पात्र में दस दिन भी रखा हुआ घृत विषाक्त हो जाता है। अतः वह त्याज्य होता है।

**नवनीत –** नवनीत दो प्रकार का होता है। १. दही से तत्काल निकाला हुआ नवनीत (मक्खन) २. दुग्ध से निकाला हुआ नवनीत । इन दोनों के गुणधर्मों में भी सामान्य अन्तर है। दही से उत्पन्न नवनीत बालक और वृद्धों के लिए प्रशस्त है। यह बलवर्द्धक होता है।[४]

१. आयुः कामो घृतेनाग्नौ जुहुयाल्लक्ष संख्या।
२. घृतमानय पौराणं बीजिका लवणं दधि ।
ब्रणभंग करिष्यामि स्वयमेव पिनाकिनः।। वामन पुराण
३. बुध्यग्नि शुक्रौजो मेदः स्मृतिकफकारित्वम् ।
वातपित्तविषोन्माद रोगशोथालक्ष्मीज्वरनाशित्वम् ।
४. बालवृद्धानां प्रशस्तत्वम् , बल कारित्वम्

दुग्ध से उत्पन्न नवनीत नेत्र ज्योति को बढ़ाने वाला तथा रक्त दोष और पित्त दोष को नष्ट करने वाला होता है।[१]

**दधि** – "क्षीरोत्तरावस्थाभाव: दधि: अर्थात् दुग्ध की अन्तिम अवस्था का अभाव हो जाना दधि कहलाता है। अर्थात् जब दुग्ध का स्वरूप पूर्णरूपेण बदल जाता है उसे दधि कहते हैं। यह बात वृद्धि करने वाला तथा पिपासा को शान्त करने वाला होता है।

रात्रि में दधि सेवन का निषेध किया गया है।[२] यदि खाना ही हो तो उसमें शर्करा, मधु, मूँग तथा आँवला मिलाकर खाना चाहिए।

**तक्र**– तक्र (मट्ठा) तीन प्रकार का होता है।[३]

१. दधि का घोल जिससे सम्पूर्ण घृत निकाल लिया गया हो।

२. दधि का घोल जिससे आधा घृत निकाल लिया गया हो।

३. दधि का घोल जिससे घृत न निकाला गया हो।

अन्य मत से तक्र (मट्ठा) पाँच प्रकार का होता है। १. घोल, २. मथित, ३. तक्र, ४. उद्स्वित तथा ५. छच्छिका[४] इनके लक्षण क्रमश: इस प्रकार हैं।

**१. घोल** – जल रहित दधि का घोल

**२. मथित** – दधि को अच्छी तरह 'मथ' कर तैयार किया गया जल

---

१. दुग्धोत्थं नवनीतं तु चाक्षुष्यं रक्तपित्तनुत्।

२. रात्रौ दधि न भुञ्जीत।

३. समुद्धृतघृतं तक्रं अर्धोद्धृतघृतं तथा।
अनुद्धृतघृतं चान्यत् इत्येतत् त्रिविधं मतम्।

४. ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम्।
तक्रं पादजलं प्रोक्तं उदस्वित् अर्धवारिकम्॥
छाच्छिका सरहीनं स्यात् अच्छा प्रचुरवारिकम्॥

रहित घोल।

**३. तक्र –** दधि और उसकी मात्रा का $\frac{१}{४}$ जल।

**४. उदस्वित् –** आधा दधि + आधा जल मिलाकर मन्थन द्वारा तैयार घोल।

**५. छच्छिका –** दधि की मात्रा से अधिक जल डाल कर मन्थन किया गया घृत रहित घोल।

**दुग्ध (क्षीर) –** दुग्ध को सम्पूर्ण भोजन माना जाता है। क्योंकि इसमें शरीर पोषक लगभग सभी तत्व पाए जाते हैं। दुग्धपान से आयु की वृद्धि होती है। इसीलिए जन्म दिन पर बच्चों को दुग्ध, गुड़ और तिल पिलाया जाता है।[१] साथ ही क्षीर से बना हुआ भोज्य पदार्थ पायस (खीर) का हवन करने[२] तथा इसका सेवन करने से बल-ओज एवं नैरुज्य की प्राप्ति होती है।[३]

**क्षीर के भेद –** दूध (क्षीर) दो प्रकार का होता है। १. पेयूष २. मोरट।

प्रसव काल से सात दिनों तक का दूध पेयूष कहा जाता है। सात दिनों के बाद का दूध 'मोरट' कहलाता है।[४]

**गोमूत्र –** शरीर की आभ्यन्तर एवं बाह्य शुद्धि करने वाला द्रव्य है किन्तु आयुर्वेद इसके अन्य गुणों का उल्लेख करते हुए इसे औषधि के रूप में वर्णित किया है। इसके गुण-धर्म का विवेचन करते हुए लिखा

---

१. सतिलं गुडसम्मिश्रं अञ्जल्यर्धमितं पयः।
मार्कण्डेयाद् वरं लब्ध्वा पिबाम्यायुर्विवृद्धये॥

२. स्वजन्म दिवसे मस्तु पायसैर्मधुरान्वितैः।
जुहोति तस्य वर्धन्ते कमलारोग्यकीर्तयः॥

३. अमृतं शिशिरे बह्निः अमृतं क्षीरभोजनम्।

४. आसप्तरात्रं प्रसवात् क्षीरं पेयषमूह्यते। परतो मोरटं विद्याद् अप्रसन्नं कफात्मकम्।

है—

'गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम्।
लघ्वग्नि दीपनं मेध्यं पित्तलं कफ वातजित्।
शूलगुल्मोदरानाह विरेका स्थापनादिषु।
मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत्।।

यह मूत्र के गुण और लक्षण को बताते हुए यह निर्देश दिया गया है कि जब भी मूत्र चिकित्सा देनी हो तो केवल गोमूत्र का ही प्रयोग करें।

**गोमय –** यज्ञाग्नि का आधार 'कण्डिका' के रूप में प्रयोग में आता है। कण्डिका भस्म आरोग्य कारक तथा कृमि नाशक कहा गया है। इसीलिए गोमय का प्रयोग पञ्चगव्य में शरीर शोधन हेतु भी किया जाता है। गौ और गौ से प्राप्त गव्यों पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि गौ पालन और गौ सेवा निश्चय ही मानवमात्र के कल्याण के लिए है। अष्टाङ्ग हृदय की यह उक्ति "अन्नं गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्" सर्वथा सत्य है। पुराणों में अनेक कथाएँ हैं जो गौ सेवा के महत्व को प्रतिपादित करती है। राजा दिलीप की गो सेवा सर्वविदित ही है। आज भी गो सेवा दुख-दारिद्र्य और व्याधियों से छुटकारा दिलाकर मनुष्य को दीर्घायुष्य प्रदान करने में सक्षम है।



# आर्यभट

भारतीय ज्योतिष को एक नया आयाम देने वाले तथा भारतीय ज्ञान विज्ञान के प्रतिनिधि आचार्य आर्यभट का स्थान आविष्कारकों की अग्रपंक्ति में आता है। इनका जन्म शक ३९८ में माना जाता है। अपनी सुप्रसिद्ध कृति आर्यभटीयम् में इन्होंने गणितीय ढंग से अपने काल का स्वयं उल्लेख किया है।[1]

आर्यभट ने कहा है कि "साठ-साठ वर्ष की साठ आवृत्ति होने पर जितने वर्ष होते हैं उतने वर्ष तथा तीन युगपाद बीत जाने पर मेरी आयु २३ वर्ष की थी।[2]" अर्थात् सत्य, त्रेता और द्वापर के बीत जाने पर कलि के ६० × ६० = ३६०० वर्ष बीतने पर इनकी आयु २३ वर्ष की थी। वर्तमान शक १९२९ में कलि के ५१०० वर्ष बीत चुके हैं। ५१००-३६०० = १५०८। १९२९-१५०८ = ४२१ शक। अर्थात् ४२१ शक में इनकी आयु २३ वर्ष की थी। इस आधार पर इनका समय ३९८ शक सिद्ध हो जाता है। कुछ चिन्तकों ने षष्ट्यब्दानां षष्टि का अभिप्राय ६० वर्षों की ६० आवृत्ति न लेकर षष्ट्यब्दों से गुरु के ६० संवत्सरों का ग्रहण किया है तथा ६० संवत्सरों की ६० आवृत्ति लिया है। इससे काल विवादग्रस्त हो जाएगा। क्योंकि षष्ट्यब्दों का आरम्भ प्रभवादि और, विजयादि दो क्रम से प्रचलित हैं। जन्म स्थान के विषय में भी इन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। "कुसुम पुरे अभ्यर्चितं ज्ञानम्"[2] इस कथन के अनुसार इनका जन्म स्थान कुसुमपुर ज्ञात होता है। किन्तु कुसुमपुर को लेकर इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग कुसुमपुर 'पटना' को मानते हैं तथा कुछ लोग कुसुमपुर दक्षिण भारत में केरल और कर्नाटक की सीमा पर मानते हैं। दक्षिण भारत में मानने के प्रमुख दो आधार हैं। १. भट उपाधि प्राय: केरल में होती है। २. इनके ग्रन्थ की प्रथम प्रति मलयालम लिपि में मिली थी[3] जिसके आधार पर डॉ. केर्न ने आर्यभटीय का प्रकाशन करवाया

---

१. षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादा:
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीता: ॥ आ.भ.

२. आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्। आ. भ.

३. भारतीय ज्योतिष (शंकर बालकृष्ण दीक्षित) लखनऊ १९६३, पृ. २७६।

था।

'पटना' को कुसुमपुर स्वीकार करने हेतु निम्नलिखित आधार प्राचीन साहित्य में उपलब्ध है—

१. रघुवंश के छठे सर्ग २४ वें श्लोक में पुष्पपुर का उल्लेख है—

"प्रासादवातायन संस्थितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्।"

आचार्य मल्लिनाथ ने इसकी टीका में लिखा है —

"पुष्पपुराङ्गनानां पाटलिपुत्रपुराङ्गनानाम्।"

२. दशकुमार चरित के आरम्भ में ही लिखा है—

"व्याख्यातरत्नाकरमाहात्म्यमगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी।"

३. "प्राचीनचीनचरचर्चितपुष्पपुर्यामापूर्यपर्ययजनार्यभटेन वेधम्।"

आचार्य सुधाकर

४. स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्।
गङ्गायाः दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति।।

वायु. पु. ३२८-२८. ३१८

इन सभी तथ्यों के आधार पर कुसुमपुर 'पटना' ही है इसमें सन्देह नहीं किन्तु इससे आर्यभट के जन्म का विवाद सुलझ जाता हो ऐसा नहीं है। आर्यभट ने स्वयं संकेत दिया है "कुसुमपुरे ऽभ्यर्चितं ज्ञानम्" अर्थात् उन्होंने ज्ञानार्जन एवं ज्ञान का प्रकाश (रचना) पटना में किया होगा। अतः यह तो निर्विवाद है कि इनका कार्य क्षेत्र पटना ही रहा है।

आर्यभट ने पृथ्वी की दैनन्दिन गति[१] (अक्षभ्रमण) की घोषणा कर सम्पूर्ण ज्योतिष जगत को चमत्कृत कर दिया था। इन्होंने उदाहरण दिया कि जब हम नाव पर बैठ कर चलते हैं तो नाव स्थिर प्रतीत होती है किन्तु नदी के किनारे के वृक्ष आदि विपरीत दिशा में जाते हुए (गतिशील) दिखलाई पड़ते हैं।

---

१. आर्यभटीयम

उसी प्रकार हम पृथ्वी वासियों को पृथ्वी स्थिर तथा तारे चलते हुए प्रतीत होते हैं।[1] सैद्धान्तिक रूप से भूभ्रमण के उद्घोष की यह सर्वप्रथम घटना है। यहाँ यह स्पष्ट है कि आर्यभट ने पृथ्वी के दैनन्दिन अक्षभ्रमण को प्रदर्शित किया है। किन्तु पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है इसकी चर्चा उन्होंने केवल संकेत मात्र से की। उन्होंने कहा कि पृथ्वी एक प्राण में (१० विपल में) एक कला चलती है।[2] परमेश्वर प्रभृति आचार्यों ने आर्यभट के मूलपाठ ''प्राणेनैति कलां भू'' में पाठान्तर कर भू के स्थान पर भं कर दिया । तथा कहा कि पृथ्वी के भ्रमण को न बताकर भपञ्जर के भ्रमण का संकेत आचार्य ने किया है। यदि पाठान्तर को प्रमाण न माना जाय तो पृथ्वी की दैनन्दिन (अक्षभ्रमण) तथा वार्षिक गति चक्रभ्रमण दोनों का स्पष्ट ज्ञान आचार्य आर्यभट ने कर लिया था। यह स्वत: सिद्ध हो जाता है। किन्तु पाठान्तर कर इस तथ्य को विवादास्पद बना दिया गया है। जो सोद्देश्य प्रतीत होता है। अत: यही स्वीकार करना उचित होगा कि आर्यभट को भूचलन का ज्ञान हो चुका था। उस काल के लिए यह महत्वपूर्ण घटना थी इसके उद्घाटन का श्रेय एक मात्र आर्यभट को ही जाता है। इसी प्रकार गणितीय क्षेत्र में व्यास और परिधि के सम्बन्ध को अत्यन्त सूक्ष्मता में जाकर साधित किया। उन्होंने देखा कि यदि व्यास का प्रमाण २०,००० फुट (किसी भी प्रमाण से मापने पर) है तो परिधि का वास्तविक मान ६२८२४ फुट होगा।[3] गणित के अन्य पक्षों के प्रतिपादन के साथ-साथ उन्होंने कुट्टक गणित का विवेचन किया जिसका ज्ञान इनसे पूर्व सम्भवत: किसी भी देशवासी को नहीं था।

आर्यभट को सबसे बड़ी समस्या अङ्कों के सन्दर्भ में थी। अङ्को को प्रदर्शित करने का सरल ढंग नहीं था। इसलिए आर्यभट ने अङ्कों को व्यक्त करने हेतु एक नई परम्परा का ही अविष्कार कर डाला। जिसके माध्यम से संख्या के बड़े से बड़े मान को सरलता से प्रकट किया जा सकता है। एक ही पद्य में उन्होंने अङ्कों की प्रक्रिया को निरूपित कर दिया है। यथा—

१. अनुलोम गतिर्नौस्थ : पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
आचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ।। आ. भ. ४.९

२. प्राणेनैति कलां भू: खयुगांशे ग्रहजवो भवांशेऽर्क ।। आ. भ. १.६

३. चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्था सहस्राणम् ।
- अयुतद्वय विष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाह : १०

वर्गाक्षराणि वर्गे ऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात्ङ्मौ यः ।

खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ॥[१]

कवर्गादि वर्गाक्षरों के लिए १, १००, १०,००० आदि वर्ग संख्याएँ तथा यकारादि अवर्गाक्षरों में १०, १०००, १००००० आदि संख्याओं का बोध करना चाहिए। ङ और म के योग से (ङ = ५, म = २५) य का मान होता अर्थात् य = ३० ।

स्वर और वर्गाक्षर तथा स्वर और अवर्गाक्षर मिलकर कुल १८ संख्या स्थानों को प्रकट करते हैं।

स्पष्टता के लिए उदाहरण— वर्गाक्षर से

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | क् + अ | = | क | = | १ |
| २. | क् + इ | = | कि | = | १०० |
| ३. | क् + उ | = | कु | = | १०००० |
| ४. | क् + ऋ | = | कृ | = | १०००००० |
| ५. | क् + ऌ | = | क्ऌ | = | १०००००००० |
| ६. | क् + ए | = | के | = | १०००००००००० |
| ७. | क् + ऐ | = | कै | = | १०००००००००००० |
| ८. | क् + ओ | = | को | = | १०००००००००००००० |
| ९. | क् + औ | = | कौ | = | १०००००००००००००००० |

इसी प्रकार अवर्गाक्षर और स्वरों के योग से ९ संख्यायें —

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | य् + अ | = | य | = | ३० |
| २. | य् + इ | = | यि | = | ३००० |
| ३. | य् + उ | = | यु | = | ३००००० |

१. आर्यभटीय १.२

४. य् + ऋ = यृ = ३०,००००००

५. य् + ऌ = य्ऌ = ३०,००००००००

६. य् + ए = ये = ३०,००००००००००

७. य् + ऐ = यै = ३०,००००००००००००

८. य् + ओ = यो = ३०,००००००००००००००

९. य् + औ = यौ = ३०,००००००००००००००००

इन्हीं नियमों से बड़ी-बड़ी संख्याओं को व्यक्त करते हुए आर्यभट ने ग्रहों के भगण आदि का मान लिखा है।[१] यथा—

रविभगण = ख्युघृ = खु+यु+घृ = २०,००० + ३०००००+४०००० ०० = ४३२०००

चन्द्रभगण चयमियिङुशुघृल = ५७७५३३३६

मौमभगण ङि. शि वु ण्ऌ खृष्ट = १५८२२३७५००

इसी प्रकार सभी ग्रहों एवं उच्चों के भगण पठित किए गए हैं। यह आर्यभट की अद्भुत देन है।

भारत वर्ष में ज्योतिष शास्त्र की तीन परम्परायें हैं।

१. सौर परम्परा, २. आर्य सिद्धान्त, ३. ब्राह्म सिद्धान्त

१. सौर परम्परा भगवान सूर्य द्वारा प्रवर्तित है जो ऋषियों के माध्यम से प्रचलित हुई। इसका प्रमुख ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त है।

२. आर्य परम्परा आर्य भट से आरम्भ होती है। इस परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ आर्यभट द्वारा रचित आर्यभटीयम् है।

---

१. युगरविभगणाः ख्युघृ शशि चयमियुङुशुघृऌ कु ङि. शिवुण्ऌ ख्षृ य़ पाकशनि ढु ङ्.विव्व गुरु खिच्युम कुण मद्लिकुनुखृ मृगुबुधसौराः आर्यभटीय १.३

३. ब्राह्म परम्परा — यह व्यवहार में ब्रह्मगुप्त के द्वारा आई तथा इसका प्रमुख ग्रन्थ गुप्त द्वारा विरचित ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त है।

इसमें आर्यभट की परम्परा का सम्मान ब्रह्मगुप्त ने भी किया हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि आर्यभट द्वारा साधित ग्रह पर्याप्त शुद्ध हैं। आर्यभट का गौरव इस बात से बढ़ जाता है कि उनके प्रमुख समकालीन आलोचक ब्रह्म गुप्त ने अपने ग्रन्थ खण्ड खाद्यक में लिखा है —

"वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभट तुल्यफलम् ।।"

अर्थात् मैं अपने नूतन ग्रन्थ खण्डखाद्यकम् में आचार्य आर्यभट के तुल्य फल देने वाली गणित दे रहा हूँ। आचार्य ब्रह्मगुप्त की यह उक्ति प्रकट करती है कि आचार्य ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की ग्रहगणित की शुद्धता को सम्मान पूर्वक स्वीकार कर लिया था।

आचार्य आर्यभट के सन्दर्भ में अलबेरुनी के लेख ने कुछ भ्रम पैदा किया था। उसने लिखा था आर्यभट् दो थे एक कुसुमपुर निवासी दूसरे उनसे पूर्ववर्ती। किन्तु यह भी लिखा है कि पूर्ववर्ती आर्यभट की कृति उन्हें देखने को नहीं मिल सकी थी।

अलबेरुनी प्रथम आर्यभट के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वे सभी बाते कुसुमपुर वाले आर्यभट से ही मेल खाती है। अत: यह मात्र भ्रम है प्रथम आर्यभट ही कुसुमपुर निवासी थे। दूसरे आर्यभट भी भारतीय इतिहास में है किन्तु उनका काल शक ८७५ के आसन्न है। इनकी रचना का नाम लघु आर्य सिद्धान्त तथा पराशर सिद्धान्त है। आर्यभट के नाम से आर्यभटीय ग्रन्थकार प्रथम आर्यभट का ही बोध होता है। भारत सरकार ने इन्हीं के सम्मान में आर्यभट नामक भारतीय उपग्रह छोड़ा है।

**आर्यभटीयम् –** आचार्य की प्रमुख रचना आर्यभटीयम् है। इसमें आर्याछन्द का प्रयोग किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसका कारण देश भक्ति से जोड़ा है। कहा है आर्यावर्त में ग्रन्थ की रचना हुई इसलिए आर्याछन्द का

प्रयोग किया। कुछ लोगों का मत है कि स्वयं आर्यभट ने आर्या से अपने नाम को जोड़ा है।

इस ग्रन्थ में कुल चार पाद हैं।

१. गीतिकापाद इसमें कुल १३ आर्यायें हैं, इनमें युगमान, ग्रहभगण, भूचलन आदि का विवेचन है।

**२. गणितपाद –** इसमें वर्गमूल -घनमूल - वृत्त, त्रिभुज, गोल आदि के फल से लेकर कुट्टक तक का गणित दिया गया है। इसमें कुल ३३ पद्य हैं।

**३. कालक्रियापाद –** इसमें वर्षमान - क्षयाधिमास युगप्रवृत्ति कक्षाप्रमाण, मन्दोच्च, शीघ्रान्त्यफलज्या आदि का वर्णन है। इसमें कुल २५ पद्य हैं।

**४. गोलपाद –** इसमें ग्रह एवं भपंजर, भ्रमण, भू-परिचय, विविध वृत्तों का परिचय ग्रहणगणित आदि का विवेचन है। इसमें कुल ५० पद्य हैं।

इस प्रकार आर्य भटीय अपने लघु कलेवर में समग्र गणित एवं खगोल को समेटे हुए भारतीय ज्योतिष शास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रन्थ के रूप में भारतीय ज्ञान विज्ञान को आज भी आलोकित कर रहा है।



# प्राच्यविद्या और पर्यावरण

भारतीय संस्कृति में स्थावर-जंगम-जड़ चेतन आदि सृष्टि की समस्त कोटियों से सम्बन्धित सभी इकाइयों को स्थान एवं काल के अनुसार उचित सम्मान देने की व्यवस्था है। यही संस्कृति है जो सर्वप्रथम विश्वबन्धुत्व और समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना उन्मुक्त भाव से करती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।

यह सूक्ति सर्वविदित है। परन्तु यह कल्पना सर्वसाधन सम्पन्न किसी विशाल नगर में नहीं की गई। यह कल्पना प्रकृति के बीच हरे-भरे जंगलों में बिहार करने वाले ईर्ष्या-द्वेष-लोभ-मात्सर्य आदि दुर्गुणों से रहित चित्त वाले मनीषियों के मस्तिष्क की उपज है। वे ही स्वस्थ चिन्तन कर सकते हैं क्योंकि वे प्रकृति को भी समझते हैं और मानव मन को भी। आज विज्ञान ने मानव के मन को समझा और उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति में लग गया। प्रकृति की सर्वथा उपेक्षा कर दी परिणाम सबके सामने हैं। जबकि हमारी परम्परा इससे भिन्न रही है। हम कभी एकपक्षीय चिन्तन करने के पक्ष में नहीं रहे। यहाँ तक कि यदि हम किसी के अभिवादन का उत्तर भी देते है तो उसे भी प्रकृति से जोड़ देते हैं "शतं जीवेम शरदः" सौ शरद ऋतुओं तक जीओ। सीधे भी कह सकते हैं "सौ वर्ष जीओ" किन्तु इसमें कोई परम्परा नहीं है। शरद और बसन्त ऋतुओं के साथ जीवनकाल जोड़ने की हमारी परम्परा रही है। इन परम्पराओं के साथ विश्वमङ्गल की कामना की गई है। सभी लोग मानसिक एवं शारीरिक रूप से निरोग रहेगे तभी सुखी रहेंगे। शरीर स्वस्थ रहते हुए अनेक अभावों से ग्रस्त रहेंगे तो मानसिक स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रह सकेगा। जब प्रत्येक व्यक्ति सबके कल्याण के विषय में सोचेगा तो संसार में कोई दुःखी नहीं रहेगा। इन्हीं आदर्शों के साथ चलने वाला व्यक्ति "वसुधैव कुटुम्बकम्" की कल्पना कर सकता है। इससे भिन्न जीवन पद्धति का व्यक्ति यदि "वसुधैव

कुटुम्बकम्'' का नारा देता है या इसके सन्दर्भ में बात करता है तो वह केवल भाषण मात्र होगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम बाह्य पर्यावरण शुद्धि के साथ-साथ आन्तरिक पर्यावरण शुद्धि पर विशेष ध्यान दें। जब हमारा मन शुद्ध रहेगा तो हमारे आचरण शुद्ध होंगे। हमारा धर्म यही सिखलाता है। आज धर्म का नाम सुनते ही हमारे देश के राजनैतिक वर्ग के कान फटने लगते हैं जिह्वा कड़वी होने लगती है लेकिन धर्म की परिभाषा एवं उसके लक्षणों पर विचार करें तो देखें उनमें कौन सी कड़वाहट है जो समाज के लिए घातक है। धर्म का लक्षण है—

धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्यसत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

धैर्य, क्षमा, दम (आत्म संयम), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (मन की शुद्धि), इन्द्रियों पर नियन्त्रण, धीः (विवेक), विद्या (शिक्षा) सत्यवादिता, अक्रोध (क्रोध न करना) ये दस धर्म के लक्षण हैं।

इनमें से प्रत्येक लक्षण मानव के जीवन स्तर को ऊपर उठाने में सहायक हैं। अतः धर्म के परित्याग से समाज संगठित नहीं होगा, अपितु धर्म का अनुपालन करने से पारस्परिक सौहार्द्र बढ़ेगा। धार्मिक भावनाओं का अभाव ही सामाजिक प्रदूषण को अहर्निश बढ़ा रहा है! अतः हमें केवल बाह्य वातावरण में उत्पन्न प्रदूषण से ही भय नहीं है, अपितु व्यक्तिगत एव सामाजिक प्रदूषण से भी भय है। आज बाह्य प्रदूषण की अपेक्षा आभ्यन्तर सामाजिक प्रदूषण ही मानव जाति के लिए अधिक घातक दृष्टिगत हो रहा है। अतः हमें प्रयत्नपूर्वक अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति का पुन : अवलोकन एवं उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

हमारी प्राच्यसंस्कृति ने जो जीवन पद्धति दी है इसमें भूमि को माता तथा सभी जीव-जन्तु एवं वनस्पतियों में प्राणी ही नहीं, अपितु देवत्व का भाव भी प्रदर्शित किया है—

पशवः पक्षिणः सर्वे मातरः पितरश्च नः।
पालनीयाः प्रयत्नेन श्रुतिरेषा सनातनी।।

हम वनस्पतियों का आवश्यकतानुसार उपयोग भी करते हैं परन्तु उनके प्रति हम आदरभाव भी रखते हैं। सामान्य तृण 'दूर्वा' से लेकर विशाल वृक्ष पीपल-वट आदि तक सभी न केवल हमारे लिए आदरणीय है अपितु हम इनकी समय-समय पर पूजा भी करते हैं। कोई भी भारतीय संस्कृति का अनुयायी व्यक्ति 'पीपलवृक्ष' काटने का अनायास साहस नहीं करेगां। यदि किसी परिस्थिति में उसे काटना अपरिहार्य हो जाता है तो उसके अभाव की पूर्ति के लिए उसे काटने से पूर्व एक पीपल वृक्ष का रोपण करता है। पञ्च वृक्षों (पीपल-वट-प्लक्ष-जम्बू-आम्र) के प्रति विशेष सम्मान का भाव है। इसके साथ-साथ निम्ब-कदम्ब-अर्जुन-सर्ज-आमलक प्रभृति वृक्षों को भी धार्मिक स्तर से सम्मान दिया गया है। भारतीय वास्तु शास्त्र में गृहनिर्माण के साथ-साथ विशिष्ट वृक्षों के रोपण को भी महत्व दिया गया है। यथा—

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चरीकम्।

कपित्थविल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्।।

अर्थात् एक अश्वत्य (पीपल), एक पिचुमन्द (निम्ब), एक न्यग्रोध (वट), दश चिञ्चरीक (इमली), तीन कपित्थ (कैंथ), तीन विल्व (बेल), तीन आमलक (आँवला) तथा पाँच आम्र (आम) के वृक्षों का रोपण करने वाला व्यक्ति नरक को नहीं देखता है अर्थात् स्वर्ग में ही जाता है। इस प्रकार अनेक प्रेरणाप्रद प्रसङ्ग उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है कि प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण हमारे अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार कूप-वापी एवं नदियों के प्रति भी देवत्व की भावना है। इसमे मूत्र-पुरीष आदि के विसर्जन का घोर निषेध किया है। इतना ही नहीं प्रदूषण करने पर दण्ड का भी विधान था। मनु ने लिखा है—

समुत्सृजेत् राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनागपि।

स द्वौ कर्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्।।

अर्थात् जो सड़क (सार्वजनिक मार्ग) पर मलमूत्र का त्याग करता है उसे २ कर्ष (प्राचीन मुद्रा) दण्ड लेकर उसी से तत्काल साफ कराना चाहिये। यदि इस प्रकार का दण्ड विधान हो तो आज सर्वत्र स्वच्छता ही दीखेगी। आज

विदेशों में इस प्रकार के प्रदूषण पर दण्डविधान हैं, किन्तु भारत में नही है। परिणाम भी सबके समक्ष है।

जब तक गंगा माँ थी तब तक स्वच्छ एवं पवित्र थी। आज जब भौतिकवाद ने उसे सामान्य नदी समझ लिया तो वह प्रदूषित हो गई। पवित्र भावना के अभाव में प्रदूषणमुक्ति के सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं।

किसी भी प्रकार से इनके जल-दूषित एवं अपवित्र करने को घोर पातक के रूप में कहा गया है। केवल अपने पीने वाले जल को ही शुद्ध रखने की धारणा न रखकर समस्त जलाशयों को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने की भावना ही पर्यावरण शुद्ध रखने में सक्षम होगी। भावना में शुद्धि निम्नलिखित आधारों पर ही सम्भव है।

१. पर्यावरण सम्बन्धी समग्रज्ञान एवं इसके संरक्षण के प्रति विवेकपूर्ण दायित्व।

२. धार्मिक भावना तथा (३) प्रकृति के प्रति मातृवत् आस्था।

इन्हीं आधारों पर हम प्रकृति से प्राप्त होनेवाले अजस्र ऊर्जा स्रोतों को सुरक्षित रख सकते हैं, तथा उनका यथेष्ट लाभ ले सकते हैं।

हमारी प्राचीन संस्कृति में वृक्ष-नदी एवं जलाशयों को जीवन्त माना गया है। आदि काव्य वाल्मीकि रामायण में इस भावना का सजीव चित्रण किया गया है। सीता का हरण कर जब रावण ले जा रहा था। तब सीता ने अपने को असहाय पाकर अपना सन्देश वृक्षों, नदियों एवं पक्षियों द्वारा देने का प्रयास किया। सीता ने कहा इस वन के वृक्षों में रहने वाले सभी देवताओं को मेरा नमस्कार है। आपलोग मेरे पति को मेरे अपहरण की सूचना दे दें। मैं कर्णिकार आदि सभी पुष्पों को आमन्त्रित करती हूँ। आप शीघ्र ही राम को सूचित करें कि रावण सीता का हरण कर रहा है। मैं हंस कारण्डव से व्याप्त गोदावरी नदी से कह रही हूँ कि राम को मेरे हरण की सूचना दें।[1]

---

१. देवतानि च यान्यस्मिन् वने विविध पादपे।
नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत माम् हृताम्।
आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकाराँश्च पुष्पितान्।
क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः।।
हंससारससंघुष्टां वन्दे गोदावरीं नदीम्।
क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः।
बा. रा. ३.४९.३१-३३

आज भौतिक सुख साधनों की लिप्सा ने हमें प्रकृति से दूर ले जाकर ऐसे स्थान पर खड़ाकर दिया है, जहाँ हम कृत्रिम एवं प्रदूषित अन्न-जल एवं वायु ग्रहण करने हेतु बाध्य होते जा रहे हैं। इस प्रकार का प्रदूषण अब न केवल शहरों को ही प्रदूषित किया है अपितु स्वच्छ एवं शुद्ध वातावरण वाले ग्रामीण क्षेत्रों को भी बुरी तरह प्रभावित करता जा रहा है। अब आवश्यकता है सभी स्तरों से प्रदूषण पर नियन्त्रण करने की अन्यथा प्राकृतिक प्रकोप के घातक परिणाम आगामी पीढ़ियों को झेलने पड़ेंगे। अतः इस वेदवाणी को सार्थक करने के प्रयास में कृत सङ्कल्प होने की आवश्यकता है—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथ्वीशान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः।

वेदवाणी शाश्वत सत्य का प्रतिपादन करती है। किसी व्यक्ति जाति या देश विशेष के लिए यहाँ कोई उपदेश नहीं है। यहाँ पृथ्वी ही नहीं अपितु समस्त ब्रह्माण्ड में शान्ति एवं कल्याण की कामना की गई है। ब्रह्माण्ड का कोई भी भाग प्रदूषित होगा तो पृथ्वी भी अवश्य प्रभावित होगी। अतः हमें व्यक्ति से ब्रह्माण्ड तक के शुद्धीकरण हेतु जागरूक होना आवश्यक है। तभी हम प्रदूषण मुक्त हो सकते हैं।



# ग्रहों का भूमण्डल पर प्रभाव

अनन्त आकाश में विखरे दीप्तिमान तारों के बीच समय-समय पर होने वाले परिवर्तन मानव मस्तिष्क को अनादि काल से आकर्षित करते आ रहे हैं। भारतीय मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अन्तरिक्ष के अनेक रहस्यों को अपने अन्तर्ज्ञान एवं अपने दीर्घजीवन में किये गये प्रयोगो के आधार पर सुलझाया। फिर भी अनन्त रहस्य यथावत् विद्यमान हैं। मानव जीवन इतना अल्प है कि किसी एक गतिशील तारे का राशि परिवर्तन भी एक जीवन में देखपाना सम्भव नहीं है। फिर भी ऋषियों ने रहस्य भेदन हेतु मार्ग उद्घाटित कर मानव जाति को एक ज्योति प्रदान की है। आज भूमण्डल के विज्ञान वेत्ता अपने-अपने साधनों के अनुसार अन्तरिक्ष एवं सृष्टि के रहस्य को समझने हेतु अहर्निश प्रयत्नशील है।

भारतीय परम्परा में गुणधर्मानुसार आकाशीय ज्योतिष्पिण्डों का जो त्रिधा वर्गीकरण किया गया है वह यद्यपि आधुनिक परिभाषा से कुछ भिन्न है फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से पूर्णतया उपयुक्त है। भारतीय ज्योतिष में ज्योतिष्पिण्डों के तीन प्रमुख विभाग हैं १. ग्रह २. नक्षत्र ३. तारा। सूर्य और चन्द्रमा को भी ग्रह माना है। पृथ्वी को आधारभूत पिण्ड होने से उसकी गणना उक्त तीनों कोटियों से पृथक की गई है। ''भूधिष्ण्य ग्रह'' (भूमि, नक्षत्र, ग्रह) इस प्रकार के भी तीन भेद मान्य है। यहाँ नक्षत्र और तारा को एक साथ परिगणित किया गया है। भूकेन्द्र[१] मानकर ग्रहों की कक्षाओं का निरूपण किया गया हैं। किन्तु आचार्य अत्यन्त सावधान थे। इस प्रकार भूकेन्द्रित कक्षा क्रम से किसी को भ्रान्ति न हो जाय, कि वस्तुत: भूमि ग्रहकक्षाओं के केन्द्र में स्थित है। अत: उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया कि जिस वृत्त में ग्रह भ्रमण करते हैं उस वृत्त के केन्द्र में पृथ्वी नहीं है।[२]

---

१. भूमे: पिण्ड: शशांकज्ञकविरवि कुजेज्यार्किनक्षत्र-कक्षावृत्तैर्वृत्तो वृत: सन् मृदनिल सलिल व्योम तेजोमयोऽयम्।। सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय

२. यस्मिन् वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्ये कुमध्ये। वही

चन्द्रमा पृथ्वी का निकटवर्ती ग्रह है। इसकी आकर्षण शक्ति का, प्रकाश प्रत्यावर्तन का तथा प्रत्यावर्तन से उत्पन्न अनेक परिणामों का प्रभाव पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देखा जाता है। अत: चन्द्रमा ग्रह न होते हुये भी ग्रह कोटि में रखा गया। इसी प्रकार सूर्य भी अपने परिवार का सर्वाधिक शक्तिशाली पिण्ड है। इसकी शक्ति एवं प्रकाश भूतल पर स्थावर एवं जंगम दोनों सृष्टियों के लिए पोषक स्रोत है। इसके प्रकाश से ही अन्य सभी ग्रह पिण्ड प्रकाशित होते हैं। इसलिए सूर्य को भी ग्रह कोटि में ही नहीं रखा गया अपितु ग्रहराज दिवाकर कहा गया है। सूर्य और चन्द्र की स्थिति एवं गति ग्रहों की अपेक्षा भिन्न होने के कारण इनके साधन की प्रक्रिया भी भिन्न है। शेष पाँच ग्रहों— मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि को पंचतारा ग्रह कहा गया है तथा इनके साधन अर्थात् इनके भोगांश का ज्ञान लगभग समान सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। राहु और केतु दो छाया ग्रह हैं। इनका पिण्डरूप में अस्तित्व नहीं है। इनके आकाशीय नियत स्थान हैं। इन्हें तमोग्रह अथवा पात भी कहा जाता है। नाडी वृत्त (आकाशीय मध्यरेखा) तथा चन्द्रकक्षा के दो सम्पात बिन्दुओं को पात अथवा राहु-केतु कहा जाता है। यही कारण है कि राहु और केतु में परस्पर ६ राशि = १८०° का अन्तर होता है। इस प्रकार नव ग्रह एवं एक पृथ्वी सब मिलाकर १० इकाइयाँ ग्रह कोटि की हुई।

तारा और नक्षत्र मूलत: एक है। भौतिक दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। ये सभी प्रकाशमान हैं तथा अत्यन्त स्वल्प गति से गतिमान है। अन्तर इतना ही है कि क्रान्ति वृत्त के क्षेत्र में आने वाले तारों को चन्द्रमा की गति के आधार पर २७ भागों में विभक्त कर दिया गया है। एक भाग में आने वाले (क्रान्ति वृत्त के २७वें भाग में स्थित) तारे अथवा तारों के समूह को एक नक्षत्र कहा गया है। इससे भिन्न इस कोटि के ज्योतिष्मान् पिण्डों को तारा कहा जाता है।

इन समस्त खगोलीय पिण्डों के रचना की दृष्टि से कुछ अंशों में समानता होती है, किन्तु अनेक अंशों में वैषम्य भी होता है। प्रत्येक ग्रह एवं नक्षत्रों में सामान्य धर्म के अतिरिक्त कुछ विशेष धर्म भी होते हैं, जिनके कारण इन ग्रहों और नक्षत्रों के परस्पर सम्बन्ध से प्रकृति में अनेक परिवर्तन एवं प्रतिक्रियायें होती रहती हैं। ग्रहों का निरूपण करते हुये सूर्य सिद्धान्तकार ने लिखा है।

अग्निषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः।

तेजो-भू-खाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्चजज्ञिरे।। (सूर्य सिद्धान्त १२.२४)

अर्थात् सूर्य का अग्नि तत्व, चन्द्रमा का सोमतत्व, भौमका तेजस् (अग्नि), बुध का पृथ्वी तत्व, गुरु का आकाशतत्व, शुक्र का जल तत्व, तथा शनि का वायु तत्व है। अर्थात् इन ग्रहों में पृथक्-पृथक् तत्वों की प्रधानता है। इसी प्रकार नक्षत्रों में भी ग्रहों के अनुरूप गुणधर्म होते हैं, जिनका आधिदैवत्य इनका स्वामित्व कहलाता है। ग्रहों का अपने अनुरूप नक्षत्रों में रहना अनुकूल प्रभावोत्पादक होता है, किन्तु प्रतिकूल नक्षत्रों में रहना प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करता है। ग्रहों में भी परस्पर मित्र भाव एवं शत्रुभाव होता है। अग्नि तत्व वाले ग्रहों का साम्य अग्नितत्व वाले ग्रहों के साथ तथा अनुकूल तत्व वालों के साथ मित्र भाव होता है। यथा— अग्नि और जल का विपरीत स्वभाव है। अग्नितत्व का जल तत्व के साथ शत्रु भाव होगा तथा अग्नितत्व और वायु तत्व का सख्य भाव होगा। इसी प्रकार सभी तत्वों के परस्पर संख्य एवं शत्रु भाव के आधार पर ग्रहों में भी शत्रु, मित्र और सम भाव निरूपित किया गया है।

सर्वविदित है कि सूर्य रश्मि से ही सभी ग्रह प्रकाशित होते हैं। सूर्य ही स्वयं प्रकाशमान है। सूर्य को सप्त रश्मि और सहस्त्ररश्मि भी कहा गया है। आज भी वर्णक्रम (Spectrum) द्वारा सप्त वर्ण एवं उनकी प्रतिनिधि सप्त रश्मियों को ही पहचाना गया है। हमारे मनीषियों ने इन सप्त रश्मियों को सात नामों से व्यवहृत किया है। उन रश्मियों का प्रभाव स्थावर-जंगम एवं समस्त वायुमण्डल पर पड़ता है।[१] परिणामतः यह प्रभाव वायु-वर्षा-ग्रीष्म-शरद आदि समस्त प्राकृतिक परिवर्तनों पर भी पड़ता है। जिस वर्ष का अधिपति जो ग्रह हो जाता है उसके प्रकृति के अनुसार ही पृथ्वी का वातावरण होता है। यथा संवत् २०४७ का अधिपति मंगल ग्रह था। मंगल का स्वभाव उग्र है।युद्ध, अग्नि और उत्पात का प्रतिनिधि ग्रह मंगल माना जाता है। अतः शास्त्रकारों ने वर्षेश मंगल का परिणाम इस प्रकार बतलाया है—

---

१. हरिवंश पुराण, (९, ९५, १६)-तस्य यच्च्यावितं तेजः पृथ्वीमन्वपद्यत।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतस्तेजसा प्रज्वलन्त्युत।।

"जिस वर्ष का स्वामी मंगल होता है उस वर्ष पृथ्वी पर धन एवं अन्न का अभाव होता है। सर्वत्र युद्ध और रोग की विभीषिका बनी रहती है। मंगल के अधिपति होने पर पृथ्वी का कल्याण नहीं होता।[१] आकाश में ग्रह नक्षत्रों के योग से विश्व सम्बन्धी अनेक शुभाशुभ घटनाओं के संकेत मिलते हैं—

यथा— यदा क्रूरग्रहो वक्री शुभश्चैवातिचारगः।
तदा भवति दुर्भिक्षं राज्ञां युद्धं परस्परम्।

इसी प्रकार अनेक योग है जिनसे विश्व की परिस्थितियों का ज्ञान होता है। प्रत्येक वर्ष के वर्षेश, मन्त्री, मेघेश, रसेश आदि ग्रहों के आधार पर भी शुभाशुभ का निर्णय होता है।

सूर्य और चन्द्रमा के प्रभाव को तो हम प्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी पर अनुभव करते हैं। सर्वाधिक स्थूल उदाहरण ज्वार-भाटा है। यह सूर्य-चन्द्रमा की स्थिति विशेष से, उनकी आकर्षण शक्तियों के फलस्वरूप होता है। जिन परिस्थितियों में समुद्र में ज्वार-भाटा उत्पन्न होता है, उन परिस्थितियों में सर्वत्र जहाँ जहाँ जलांश होता है[२] वहाँ वहाँ भी हलचल होती है। यहाँ तक कि मनुष्य के शरीर में, रक्त में तथा वनस्पतियों के अन्दर स्थित रसों में भी उद्रेक होता है। एक रूसी वैज्ञानिक ने लिखा है "ज्वार भाटा के समय पशुओं एवं वनस्पतियों में भी प्राकृतिक आकर्षण शक्ति का प्रभाव अनुभव किया जाता है।"[३] चन्द्रमा अनेक निकटस्थ होने के कारण भूतल एवं भूतल वासियों के लिए विशेष प्रभावोत्पादक है। वैदिक वाङ्मय में चन्द्रमा को मन का कारक माना गया है। चन्द्रमा की उत्पत्ति ही ब्रह्मा के मन से हुई है। इसीलिए कहा गया है "चन्द्रमा मनसो जातः"। हम प्रत्यक्ष अनुभव भी करते है कि चन्द्रमा का

---

१. कल्पलता - मेदिनी धनकणादि वर्जिता, मेदिनी सततमाहवे रता। वह्निचौर गदभीःक्वचिज्जलं मंगले क्षिपिपतौ न मंगलम्।।

२. विष्णु पुराण २/३/८९-९२ स्थालीस्थमग्निसंयोगाद् उद्रेकि सलिलं यथा।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलम्बोधौ मुनि सत्तम।।

३. The clock of living, p. 137-The animal and plant life of the littoral regions feels the effects of the surf and of other natural forces. During ebbtide they remain open in the air either partially or completely high temperatures of the direct solar rays. The tidal zone has resuited in the most interesting adoptions of organisms to the environment.

सर्वाधिक प्रभाव मन पर पड़ता है। ज्योतिषशास्त्र में भी मनुष्य के विभिन्न तत्वों एवं अंगों का सम्बन्ध ग्रहों से दर्शाया गया है। आत्मा का सम्बन्ध रवि से, मन का चन्द्रमा से, शक्ति का मंगल से, वाणी का बुध से, ज्ञान का गुरु से, काम का शुक्र से तथा कष्ट का सम्बन्ध शनि से हैं।[१]

शास्त्रकारों ने गर्भाधान काल से ही शुभाशुभ का विवेचन किया है। गर्भस्थ शिशु का विकास ग्रहस्थिति के अनुसार ही होता है। आचार्य वराह मिहिर ने लिखा है कि प्रथम मास में रक्त संचय, द्वितीय मास में पिण्ड निर्माण, तृतीय मास में अवयव, चतुर्थ मास में अस्थि, पंचम मास में चर्म, षष्ठ मास में रोम तथा सप्तम मास में चेतना का संचार होता है।[२] सातवें मास में शिशु पूर्ण हो जाता है। अष्टम और नवम मास गर्भस्थ शिशु के पोषण का होता है। प्रत्येक मास के स्वामी ग्रह जिन परिस्थितियों में होते हैं उन मासों के गर्भ की स्थिति भी उसी प्रकार होती है। यदि गर्भ स्वामी शुभ एवं बलवान है तो गर्भ पुष्ट होगा। ग्रह निर्बल एवं पापाक्रान्त है तो गर्भ में विकार आ सकता है। ग्रह से सम्बन्धित मासों में गर्भपात भी हो सकता है।

गर्भस्थ शिशु का विकास, उसकी मानसिक एवं शारीरिक स्थिति आदि का निर्माण ग्रहों के तत्व एवं प्रकृति के अनुसार ही होता है। हीनांग, विकलांग, अधिकांश, क्रोधी, सौम्य, पराक्रमी, दुर्बल आदि स्थितियाँ ग्रहों की स्थिति पर ही निर्भर करती है जिनका ज्ञान गर्भाधान काल एवं जन्म काल के आधार पर किया जा सकता है।

जब हम देश विशेष के सम्बन्ध में अथवा ऋतु परिवर्तन-वृष्टि एवं भूकम्प आदि के सम्बन्ध में ज्ञान करना चाहते हैं तो संहिताओं के अनुसार ग्रहचार का अवलोकन करना पड़ता है तथा कूर्म चक्र के आधार पर देश-विशेष पर घटित होने वाली घटनाओं का ज्ञान कर पाते हैं। कूर्म चक्र में

---

१. लघुजातकम् - २.१- आत्मा रवि: शीतकरस्तु चेत: सत्वं धराज: शशिजोऽथ वाणी।
ज्ञानं सुखं चेन्द्रगुरुर्मदश्च शुक्र: शनि: कालनरस्य दु:खम्।।

२. लघुजातकम ५-६-७- कललघनावयवास्थि त्वक् रोमस्मृति समुद्भवा क्रमश:।।
मासेषु शुक्रकुजजीवसूर्यचन्द्रार्कि सौम्यानाम् ।।
अशनोद्वेगप्रसवा: परतो लग्नेशचन्द्रसूर्याणाम्।
कलुषै: पीडा पतनं निपीडितैर्निमलै: पुष्टि: ।।

भूमण्डल को कूर्म के रूप में मानकर उसके शरीर में नक्षत्रों का न्यास किया जाता है। ग्रहचार नक्षत्रों में होता है। जिस प्रकार के ग्रहों का चार जिन नक्षत्रों में होगा उनसे सम्बन्धित शुभाशुभ परिणाम सम्बन्धित देशों में होगें। यथा- श्लेषा, मघा पूर्वाफल्गुनी ये तीन नक्षत्र कूर्म के अग्निकोण में स्थित है। इन नक्षत्रों में शनि के प्रवेश से अंग, बंग, कलिंग, कोशल आदि देशों में उत्पात होते हैं।[१]

इसी प्रकार चन्द्र नक्षत्र में सूर्य और चन्द्रमा दोनों स्थित हों तो आंधी-तूफान का भय होता है। सूर्य नक्षत्र में यदि दोनों हों तो न वायु न वृष्टि तथा यदि सूर्य नक्षत्र में चन्द्र तथा चन्द्र नक्षत्र में सूर्य हों तो सुवृष्टि होती है।[२]

इसके अतिरिक्त अनेक अन्य विधियाँ भी हैं जिनसे हम वातावरण का ज्ञान कर सकते हैं। परन्तु समस्त विधियों का विवेचन एक लघु निबन्ध में सम्भव नहीं है। संक्षेप में केवल दिग्दर्शन मात्र कराते हुये इस आशय से अवगत करा देना ही उचित होगा कि सभी ग्रह पिण्ड एक दूसरे को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हैं। हम भू-वासियों के लिए ग्रहों के साथ-साथ भूमण्डल का भी प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। हमारे सौर परिवार में पृथ्वी अपने ढंग का अकेला ग्रह पिण्ड है। जैसा कि भूमि की आकर्षण शक्ति का विवेचन करते समय भास्कराचार्य ने संकेत किया है[३]—

---

१. नरपतिजयचर्या-कूर्मचक्र-२१-२२-आश्लेषा च मघा पूर्वा पादे आग्नेय गोचरे।
अंग बंग कलिंगाश्च पूर्वजाश्चैव कोसला।।२१
डाहली च जयन्ती च तथा चैव सुलञ्जिका।।
उडियामं वराडं च अग्निदेशो विनश्यति।।२२

२. वृष्टिप्रबोध: - चन्द्रे चन्द्रे चेरद् वायु: सूर्ये सूर्ये न वर्षति।
चन्द्रसूर्यसमायोगस्तदा वर्षति मेघराट्।।

३. सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय-आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वामिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।

"कोई भी वस्तु ऊपर से नीचे गिरती हुई प्रतीत होती है। वस्तुत: वह गिरती नहीं है अपितु पृथ्वी उसे अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसी आकर्षण शक्ति के प्रभाव से एक व्यक्ति सीधे पृथ्वी पर स्थित है उससे १८०° की दूरी पर दूसरा व्यक्ति प्रथम की अपेक्षा उल्टा अर्थात् नीचे सिर और ऊपर पैर कर स्थित है। जैसे जल के किनारे मनुष्य की छाया दिखती है। उसी प्रकार मनुष्य पृथ्वी पर अनाकुल भाव से स्थित रहता है। इसका कारण पृथ्वी की आकृष्ट शक्ति ही है। जो पृथ्वी हमें इतनी शक्ति से अपनी ओर आकर्षित किये हुये हैं उसका प्रभाव हमारे शरीर पर अनेक प्रकार से पड़ता रहता है। इसका ज्ञान हमें सामान्य रूप से नहीं हो पाता।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि कोई भी पिण्ड स्वतन्त्र नहीं है। सभी एक दूसरे से आकृष्ट हैं तथा एक - दूसरे को प्रभावित करते हैं। अत: भूतल पर सभी प्रकार के परिवर्तनों का प्रभाव जानने के लिए सभी ग्रहों एवं नक्षत्रों का ज्ञान आवश्यक है।



# संस्कृतवाङ्मय में कृषि विज्ञान

भारतवर्ष में कृषिकर्म को अत्यधिक महत्व दिया जाता रहा है संस्कृत वाङ्मय इसका साक्षी है। अनेक प्रसङ्गों में कृषि कर्म का, विविध धान्यों, फलों एवं वृक्षों का उल्लेख इंगित करता है कि भारतीय मनीषी कृषि क्षेत्र में चिरकाल से ही जागरूक रहे हैं। महर्षि पराशर ने तो कहा है-अन्न ही प्राण है, अन्न ही बल है, अन्न से ही सभी प्रयोजनों की सिद्धि है अन्न पर ही देवता-असुर और मनुष्य का जीवन है। अत: सभी कुछ त्याग कर कृषि कर्म करना चाहिये—

**''अन्नं प्राणा बलं चान्नमन्नं सर्वार्थसाधनम्।**

**देवासुरमनुष्याश्च सर्वे चान्नोपजीविनः।।**

**अन्नं हि धान्यसञ्जातं धान्यं कृष्या विना न च।**

**तस्मात् सर्वं परित्यज्य कृषिं यत्नेन कारयेत्।।** कृ. पा. ६, ७

इतना ही नहीं व्यावहारिक पक्ष को भी स्पर्श करते हुये महर्षि ने कहा है ''धन से क्षुधा शान्त नहीं होती क्षुधा शान्ति के लिये अन्न ही सक्षम होता है। कण्ठ, कर्ण और हाथों में यदि स्वर्ण के आभूषण हो तो भी अन्न के आभाव में उपवास ही करना होगा।

**''कण्ठे कर्णे च हस्ते च सुवर्णं विद्यते यदि।**

**उपवासस्तथापि स्याद् अन्नाभावेन देहिनाम्।।** कृ.पा.१. ५।

यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में संस्कारों के साथ व्रत-पर्वों एवं पूजन विधानों के साथ भी कृषि कर्म की झलक मिलती रहती है। उदाहरण के लिए विवाह संस्कार को देंखे, विवाह मण्डप में मुख्य स्तम्भ के साथ ईषादण्ड, जिसे लोकभाषा में 'हरीश' कहते हैं स्थापित किया जाता है। चूल्हा,

चक्की आदि उपकरण रखे जाते हैं। नवरात्रि के दुर्गापूजन प्रसङ्ग में यव बीज का वपन किया जाता है। उसकी अङ्कुरण प्रक्रिया तथा रंगों के आधार पर शुभाशुभ का विचार किया जाता है। इत्यादि अनेक प्रसङ्ग ऐसे आते हैं जिनसे कृषि से सीधा सम्बन्ध झलकता है। यह हमारा भावनात्मक पक्ष है। अब कृषि कर्म और उसी की प्रायोगिक विधि की ओर उन्मुख होते हैं—

मुख्य रूप से कृषि को भारतीय मनीषियों ने चार भागों में विचारार्थ एवं प्रयोगार्थ विभक्त किया है।

१. समय, २. उपकरण, ३. बीज, ४. संरक्षण।

१. समय का ज्ञान दो प्रकार से किया जाता है पहला किस प्रकार के अन्न के लिए कौन सी ऋतु उपयुक्त होती है। दूसरा उपयुक्त ऋतु में भी कौन-सा समय शुभ होगा। इस सन्दर्भ में ज्योतिष शास्त्र में हल प्रबहण, बीजवपन, धान्यच्छेदन, कणमर्दन आदि के लिए शुभ तिथि-वार-नक्षत्रादि का विवेचन कर मुहूर्त्त का निर्धारण किया गया है।

दूसरा भाग 'उपकरण' बहुत विस्तृत है। कृषि में सर्वाधिक आवश्यकता जल की होती है। कहा भी गया है—

**वृष्टिमूला कृषिः सर्वा वृष्टिमूलं च जीवनम् ।**
**तस्मादौ प्रयत्नेन वृष्टि-ज्ञानं समाचरेत् ।।** कृ.पा.२.१।

अतः कृषि कर्म का विवेचन करते समय वृष्टि विज्ञान का भी विवेचन किया गया है। जो कृषि शास्त्र के साथ-साथ ज्यौतिष शास्त्र में भी विस्तार के साथ उपलब्ध हैं।

वृष्टि विचार के अनन्तर क्षेत्र कर्षण हेतु बैल और हल की अवश्यकता होती है। हलकर्षण हेतु किस प्रकार के बैल उपयुक्त होते हैं इनका भी विस्तृत वर्णन है। इन्हीं शास्त्रीय सन्दर्भों को लेकर प्रादेशिक भाषाओं में अनेक सूक्तियाँ प्रचलित हैं जिन्हें किसान अच्छी तरह जानते हैं। इस क्षेत्र में घाघ भड्डरी तथा बंगाल उड़ीसा में 'खनार वचन, प्रचलित हैं जिनमें कृषि सम्बन्धी समस्त सूचनायें उपलब्ध हैं बैल की उत्तम जाति के लिए घाघ ने लिखा है—

**सींग मुड़े माथा उठा मुँह का होवे गोल।**

**रोम नरम चंचल करण तेज बैल अनमोल।।**

बैलों की समुचित देख-भाल का भी निर्देश दिया गया है। महर्षि पराशर ने लिखा है कि बैलों को पीडित कर कृषि नहीं करनी चाहिये अन्यथा अधिक उपज होने पर भी उसकी नि:श्वास से सब नष्ट हो जायेगा। अत: बैल की क्षमता से अधिक कार्य नहीं लेना चाहिये। बैल के बांधने का स्थान स्वच्छ होना आवश्यक है यदि पोषक आहार न मिले तो भी स्वच्छवातावरण में रहने वाला पशु स्वस्थ और शक्तिमान होता है। गन्दगी से युक्त स्थान में बैल या अन्य पशु को रखकर उसे पुष्ट आहार दें तो भी वह स्वस्थ नहीं रह सकता।

**गोशकृन्मूत्रलिप्ताङ्गा वाहा यत्र दिने दिने।**

**निःसरन्ति गवां स्थानात् तत्र किं पोषणादिभिः।।**कृ. पा. ३.१०

बाहक (बैल) के वर्णन के बाद 'खाद' का वर्णन किया गया है। माघ महीने में गोबर को इकट्ठा कर उसे धूप में सुखाकर चूर्ण बना ले फिर उसे फाल्गुन मास में खेत में गड्ढा खोद कर गाड़ दे। बीज वपन के पूर्व गड्ढे से बाहर निकाल कर खेत में फैलाकर हल प्रबहण करने से उन्नत फसल होती है। इस प्रक्रिया को गोमय कूटोद्धार कहा गया है।

इस भाग का प्रमुख उपकरण 'हल' है। हल में आठ भाग होते हैं। जो इस प्रकार कहे गये हैं—

**''ईषा-युग-हलस्थाणुर्निर्योलस्तस्य पाशिकाः।**

**अड्डुचल्लश्च शौलश्च पच्चनी च हलाष्टकम्।।** कृ.पा.११२।

अर्थात् ईषा (हरीश), युग (जुआ), हल, स्थाणु, लागन, पाट, मूँठ तथा लूगा ये आठ भागों से मिलकर हल तैयार होता है। इनमें सभी भागों के प्रमाण पृथक्-पृथक् बताये गये हैं।

तीसरा प्रमुख भाग 'बीज' है। बीज की गुणवत्ता पर ही कृषि निर्भर करती है। बीज का चयन करते समय ध्यान रखना चाहिये कि बीज एक आकार के

हो उनमें मिश्रण न हो, अन्नका छिलका (भूसी) न हो।

**"एकरूपं तु यद्बीजं फलं फलति निर्भरम्।"** कृ. पा. ३.७९

बीज को सुरक्षित रखने की भी एक विधि है—

बीज को पोटली में बाधकर सुरक्षित और शुद्ध स्थान में रखना चाहिये। बीज का स्पर्श भी अधिकारी व्यक्ति को करना चाहिये। जूठें हाथों से बीज का स्पर्श नहीं करना चाहिये। रजस्वला, वन्ध्या और गर्भिणी स्त्रियों को भी बीज स्पर्श का निषेध किया गया है—

**नोच्छिष्टं स्पर्शयेद् बीजं न च नारीं रजस्वलाम्।**

**न बन्ध्यां गर्मिणीं चैव न च सद्यः प्रसूतिकाम्।।** कृ. पा. ३.८२

बीज के ऊपर घी-तेल-नमक आदि रखना भी हानिकारक होता है—

**घृतं तैलं च तक्रं च प्रदीपं लवणं तथा।।**

**बीजोपरि भ्रमेणापि कृषको नैव कारयेत्।।** कृ. पा. ३.८३

इस प्रकार सभी दृष्टियों से सावधानी पूर्वक बीजवपन करने के बाद फसल के संरक्षण का समय आता है। कृषि शास्त्रज्ञों का कहना है कि कृषि का निरीक्षण स्वयं करना चाहिये—

**"फलत्यवेक्षिता स्वर्णं दैन्यं सैवानवेक्षिता।"**

अर्थात् सम्यक् देखभाल की गई कृषि स्वर्ण उत्पन्न करती है और अनदेखी दैन्य को उत्पन्न करती है। महर्षि गर्ग ने लिखा है—

**पितुरन्तः पुरं दद्यात् मातुर्दद्यान्महानसम्।**

**गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत्।।** कृ. पा. ३.२

अर्थात् पिता को अन्त:पुर गृहकी सुरक्षा का भार, माता को रसोई का कार्य, तथा अपने समान व्यक्तियों (भाइयों) को पशुओं की देखभाल का दायित्व देना चाहिये किन्तु कृषि हेतु स्वयं खेत में जाना चाहिये। वहाँ

आवश्यकतानुसार निस्तृणीकरण आदि कर फसल के संरक्षण हेतु सावधान रहना चाहिये। फसल के लिए घातक कौन होते हैं? उनकी तरफ भी शास्त्रकार ने संकेत किया है—

**शांखी-गान्धी-पाण्डरमुण्डी-धूली-शृंगारी-कुमारी मडकादयः। अजा-चटक-शुक-शूकर-मृगमहिष बराहपतङ्गादयश्च सर्वे सस्योपघातिनः।।''**

कृषि कर्म में प्रसङ्गवश देवी-देवताओं के पूजन तथा बाधाओं से निवृत्ति हेतु मन्त्रों का भी विधान किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि के सभी अंगों पर सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है जिनका समग्र उल्लेख एक निबन्ध में कर पाना सम्भव नहीं है। इस प्रसंग में वराहमिहिर के कुछ अद्भुत प्रयोगों का उल्लेख अप्रसांगिक नहीं होगा—

वराहमिहिर ने ऐसे अनेक चौकाने वाले प्रसंग प्रस्तुत किये हैं जिस पर आज अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। उदांहरणार्थ—जामनु के वृक्ष को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि गेहूँ की फसल कैसी होगी। इसी प्रकार शिरीष वृक्ष से उड़द मूंग एवं मसूर आदि का ज्ञान किया जा सकता है। इससे यह संकेत मिलता है गेहूँ को प्रभावित करने वाला वातावरण जामनु को भी प्रभावित करता है। भारतीय संस्कृति में वृक्षों और वनस्पतियों को सम्मानित स्थान दिया गया है। क्योंकि उनका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से है। आज वैज्ञानिक भी जीवन के सन्दर्भ में इनकी आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। पीपल सर्वाधिक आक्सीजन विसर्जित करता है तथा रात्रि में भी उसके नीचे सोना हानिकारक नहीं है। नवग्रहों के वृक्ष उनसे सम्बन्धित वनस्पतियाँ सभी किसी न किसी रूप में जीवन से जुड़ी हुई हैं। वातावरण इन वनस्पतियों एवं वृक्षों पर ही आधारित है। वायु के साथ उड़ने वाले रजकणों को शोधित कर वायु को शुद्ध करने की क्षमता वृक्ष में ही है। इसीलिए हमारी संस्कृति में दूर्वा से लेकर बरगद तक का महत्त्व दर्शाया गया है।



# ज्योतिषशास्त्र में व्याधि निरूपण

सर्व साधन सम्पन्न व्यक्ति भी व्याधियों के समक्ष किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाता है। इसका कारण है कि व्याधियाँ कही बाहर से न आकर स्वयं के शरीर में ही विद्यमान रहती हैं। 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'' इस कटु सत्य से लगभग सभी परिचित हैं किन्तु इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है। किस समय कौन सी व्याधि शरीर को प्रभावित करेगी, यह जानना अधिक आवश्यक है। वस्तुत: व्याधि के निदान में चिकित्सा शास्त्र ही सक्षम विज्ञान है किन्तु इसके साथ एक कठिनाई है। चिकित्सा विज्ञान उस समय निदान कर पाता है जब व्याधि का अधिकार शरीर पर हो जाता है।

ऐसी परिस्थिति में व्याधि से लड़ने का पर्याप्त अवसर चिकित्सक को नहीं मिल पाता है। जबकि ज्योतिष शास्त्र इन व्याधियों के प्रकट होने से पूर्व इसकी सूचना देने में सक्षम है। यही कारण है कि भारतीय चिकित्सा विज्ञान का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध ज्योतिष शास्त्र के साथ रहा है।

भारतीय चिकित्सा पद्धति (आयुर्वेद) तथा ज्योतिष एक दूसरे के पूरक रहे हैं। आचार्य चरक ने लिखा है—

**'कर्मजा व्याधय: केचित् दोषजा सन्ति चापरे'**। (च.सं.२.४०)

त्रिषठाचार्य ने कहा है—

**जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते।।** (उ.प्र.भा.१३.३६)

अर्थात् कुछ व्याधियाँ पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से होती है तथा कुछ व्याधियां शरीरस्थ दोषों (त्रिदोष-वात, पित्त, कफ) के प्रभाव से होती है। त्रिदोषजन्य व्याधियों का निदान चिकित्सा विज्ञान (आयुर्वेद) द्वारा सरलता पूर्वक हो जाता है। आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है—

**'यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्यकर्मण: पंक्तिम्।**

**व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।'** (ल.जा.१.३)

अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों के परिणाम स्वरूप जो कुछ (शुभ-अशुभ) इस जन्म में प्राप्तव्य है उसे ज्योतिष उसी प्रकार दिखला देता है। जैसे अन्धेरे कमरे में रखी हुई वस्तुओं को दीपक का प्रकाश दिखला देता है। व्याधियों के प्रसंग में जो आयुर्वेद का सिद्धान्त है लगभग वैसा ही ज्योतिष शास्त्र का भी है।

**'पित्तः पंगु कफः पंगुः पंगवो मलधातवः।**

**वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्।।'** (उद्धृत मा. नि. पृ. १७)

देशकाल के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के शरीर में इन त्रिदोषों की तथा मल धातुओं की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। इन्हीं के प्रभाव से मनुष्य के स्वभाव में तथा खान-पान आदि प्रवृत्तियों में असमानता आ जाती है। ज्योतिष शास्त्र इन विषमताओं को भली-भाँति निरूपित करता है।

गर्भाधान से प्रसवकाल तक, प्रसूति से शरीरान्त तक प्राणियों पर प्रतिक्षण पड़ने वाले अन्तरिक्षशक्तियों के प्रभाव का सूक्ष्म आकलन ज्योतिष शास्त्र द्वारा किया जाता है। ज्योतिष शास्त्र की सूक्ष्मेक्षण प्रक्रिया आधान काल से ही प्रारम्भ हो जाती है। गर्भस्थ शिशु के विकास क्रम को बतलाते हुए आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है—

**'कललघनावयवास्थित्वकरोमस्मृतिसमुद्भवाः क्रमशः।**

**मासेषु शुक्रकुजजीव-सूर्यचन्द्रार्किसौम्यानाम्।**

**अशनोद्वेगप्रसवाः परतो लग्नेशचन्द्रसूर्याणाम्।**

**कलुषैः पीड़ापतनं निपीडितैर्निर्मलैः पुष्टिः।।'** (ल. जा. ५.६-७)

अर्थात् आधान काल से आरम्भ कर प्रसवकाल तक गर्भस्थ शिशु का मासिक विकास तत्तद् मासों के अधिपति ग्रहों की परिस्थिति के अनुरूप ही होता है। इसलिए गर्भ के प्रत्येक मास के स्वामी ग्रहों का उल्लेख किया गया है। यथा—

| *मास* | *गर्भ की अवस्था* | *स्वामी ग्रह* |
|---|---|---|
| प्रथम | कलल | शुक्र |
| द्वितीय | घन | भौम |
| तृतीय | अवयव | गुरु |
| चतुर्थ | अस्थि | सूर्य |
| पंचम | त्वक् | चन्द्र |
| षष्ठ | रोम | शनि |
| सप्तम | स्मृति | बुध |
| अष्टम | अशन | लग्नेश |
| नवम | उद्वेग | चन्द्र |
| दशम | प्रसव | सूर्य |

इसी प्रकार प्रसव के अनन्तर जन्म कालिक ग्रह स्थिति के अनुसार जातक के शारीरिक एवं मानसिक विकास का आकलन किया जा सकता है। जातक के प्रत्येक अंगों की स्थिति का ज्ञान करने के लिए कालपुरुष की कल्पना की गयी है। कालपुरुष के अंगों में सभी राशियों का न्यास किया गया है जो इस प्रकार है—

| *कालपुरुष के अंग* | *राशि* | *कालपुरुष के अंग* | *राशि* |
|---|---|---|---|
| १. सिर | मेष | ७. वस्ति | तुला |
| २. मुख | वृष | ८. गुह्य | वृश्चिक |
| ३. बाहु | मिथुन | ९. उरू | धनु |
| ४. हृदय | कर्क | १०. जानु | मकर |
| ५. उदर | सिंह | ११. जंघा | कुम्भ |
| ६. कटि | कन्या | १२. चरण | मीन |

शारीरिक सूक्ष्म ज्ञान के लिए नक्षत्र पुरुष का भी निरूपण किया गया है। नक्षत्र और राशियाँ जातक के विभिन्न अंगों की सूचक है। राशियों/नक्षत्रों पर पड़ने वाले प्रभाव उनसे सम्बन्धित अंगों के प्रभाव की सूचना देते हैं। उन्हीं परिस्थितियों के अनुसार तत्तद् अंगों का विकास एवं उनमें आने वाली विकृतियों की सूचना मिलती है। इन प्रभावों को जानने के लिए जन्मकालिक लग्न के आधार पर बनाया गया आकाशीय मानचित्र जिसे जन्मचक्र कहा जाता है, उपयोग में लाया जाता है। जन्म चक्र के बारह भाव भी शारीरिक अंगों को व्यक्त करते हैं यथा—

| *भाव* | *अंग* | *भाव* | *अंग* |
|---|---|---|---|
| १. प्रथम | सिर | ७. सप्तम | गुह्य |
| २. द्वितीय | दक्षिण नेत्र | ८. अष्टम | वाम पाद |
| ३. तृतीय | दक्षिण बाहु | ९. नवम | वाम कुक्षि |
| ४. चतुर्थ | दक्षिण वक्ष | १०. दशम | वाम वक्ष |
| ५. पंचम | दक्षिण कुक्षि | ११. एकादश | वाम बाहु |
| ६. षष्ठ | दक्षिण पाद | १२. द्वादश | वाम नेत्र |

इन द्वादश भावों से न केवल शरीर की अवस्था का ज्ञान होता है, अपितु परिवार और अन्य आवश्यक विषयों का भी ज्ञान किया जा सकता है। जैसा कि इन भावों के नामों से ही स्पष्ट है। इन भावों का व्यावहारिक विश्लेषण किया जाय तो बहुत ही रोचक तथ्य सामने आते हैं यथा—

प्रथम भाव अपने व्यक्तित्व का सूचक है। व्यक्ति अपनी पत्नी या पत्नी अपने पति का अपने सम्मुख रखना चाहता/चाहती है। इसीलिए प्रथम भाव के सामने सप्तम भाव है। धन पर भी अपना अधिकार बना रहे इसलिए अपने एक ओर धन (द्वितीय भाव) और दूसरी ओर व्यय (द्वादश भाव) इसी प्रकार एक ओर अपना पराक्रम, क्रियाशीलता (तृतीय भाव) तो दूसरी ओर लाभ (एकादश भाव) एक ओर माता (चतुर्थ भाव) तो दूसरी ओर पिता (दशम

भाव), एक ओर पुत्र/विद्या (पंचम) दूसरी ओर धर्म/भाग्य (नवम) भाव एक ओर रोग एवं शत्रु (षष्ठ) तथा दूसरी ओर मृत्यु (अष्टम भाव) का स्थान होता है।

द्वादश भावों में स्थित राशियों एवं ग्रहों के अनुसार उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अवलोकन करते हुए शारीरिक अथवा अन्य विषयों का विचार किया जाता है। ग्रह अपनी प्रकृति तथा धातुओं के अतिरिक्ति शरीर की विभिन्न प्रवृत्तियों पर भी अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं उन्हें भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। इन प्रभावों के स्थान निम्नलिखित हैं—

**'आत्मा रविः शीतकरस्तु चेतः सत्वं धराजः शशिजोऽथ वाणी।।**

**ज्ञानं सुखं चेन्द्रगुरुर्मदश्च शुक्रः शनिः कालनरस्य दुःखम्।।'**

(ल. जा. २१)

अर्थात् सूर्यादि ग्रह मनुष्य के बाह्य अंगों के अतिरिक्त आन्तरिक भावों एवं शरीरस्थ धातुओं को भी प्रभावित करते हैं जैसे—

| ***ग्रह*** | ***प्रभावक्षेत्र*** | ***धातु*** |
|---|---|---|
| १. सूर्य | आत्मा | अस्थि |
| २. चन्द्र | मन | रुधिर |
| ३. मंगल | बल | मज्जा |
| ४. बुध | वाणी | त्वचा |
| ५. गुरु | ज्ञान, सुख | मेद (चर्बी) |
| ६. शुक्र | मद | वीर्य |
| ७. शनि | दुःख | स्नायु (नस) |

उदाहरणार्थ सूर्य से सम्बन्धित व्याधियों का विवरण प्रस्तुत है

**'पित्तोष्णज्वरतापदेहपतनामयस्मरहृत्कोडज व्याधीन् –**

**वक्ति रविहृदार्त्यरिभयं त्वग्दोषमस्थिस्रवम् ।**

**कुष्ठाग्न्यस्त्रविषार्तिदारतनयव्यापच्चतुष्पाद् भयम् ।**

**चौरक्ष्मापतिदेवफणिभृत्भूतेशभूताद्भयम्** ।।' (प्र.मा. १२.६७)

अर्थात् रोग कारक सूर्य बलशाली हो तो शरीर में पित्त, उष्णता, ज्वर, दाह, मूर्छा अपस्मार (मिर्गी), हृदयरोग, वस्तिरोग, नेत्ररोग, चर्मरोग. अस्थिभंग, कुष्ठ रोग तथा अग्नि, शस्त्र, विष, पशु, सर्प, चोर, नृप एवं भूत प्रेतादि का भय होता है। इस प्रकार अन्य ग्रहों के भी व्याधि क्षेत्रों का निरूपण किया गया है। कर्मविपाक संहिता कहती है—

**गत्यां सर्वे जगज्जाता कर्मकुर्वन्ति सर्वदा।**

**स्वकर्माणि ततो देवि! भुज्यन्ते देव मानुषैः।।**

भगवान व्यास ने भी यही कहा है—

**स्वकर्म भोक्तुं जायन्ते प्रायेणैव हि जन्तवः।**

**क्षीणे कर्मणि चान्यत्र पुनर्गच्छन्ति देहिनः।।**

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि वेदपुरुष के अंग भूत सभी शास्त्र हैं। अतः सभी के समन्वय से ही भारतीय शास्त्रों के रहस्यों को जाना जा सकता है। ज्योतिष शास्त्र प्रत्यक्ष शास्त्र तो है किन्तु प्रयोग से ही इसकी प्रमाणिकता सिद्ध होती है।



# आधुनिक जीवन की समस्याओं के समाधान में योगचिकित्सा और ज्योतिष का योगदान

आज का भौतिकवादी जीवन प्रकृति से दूर कृत्रिम वातावरण में रहकर अनेक आपदाओं को स्वयं आमन्त्रित करता है। अनियन्त्रित दिनचर्या दिवस-रात्रि का अभेद अधिकाधिक धनार्जन की प्रवृत्ति सुख-भोग की अतृप्त अभिलाषा अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के कारण हैं। इतना ही नहीं इस होड़ में पारिवारिक सम्बन्धों का विखराव भी तीव्रगति से होता रहा है। परिणामत: समस्याओं एवं उलझनों का भी साथ-साथ विस्तार होता जा रहा है। इन सबके मूल में झाकें तो इन परिस्थितियों का केन्द्र बिन्दु मनुष्य का मन ही दिखता है। मन से बुद्धि का नियन्त्रण शिथिल होता जा रहा है। परिवार के सम्बन्ध तो दूर की बात है अपनी इन्द्रियाँ ही अपने शरीर के हित का ध्यान नहीं दे रही हैं। उदर की क्षमता का विचार किये बिना ही जिह्वा अनेक पदार्थों को उदर में भेजती रहती हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी शरीर के साथ अन्याय करती रहती है। परिणामत: अकाल में शारीरिक क्षमता शिथिल हो जाती है। कार्यभार के बढ़ते बोझ से मानसिक शक्ति का ह्रास हो रहा है। आज की कार्य प्रणाली से युवापीढ़ी बलात् सर्वाधिक ग्रसित हो रही है। इन सभी समस्याओं के प्रतिकार में एक मात्र ज्योतिषशास्त्र और योगशास्त्र ही सहयोगी होगा। इसका कारण यही है कि ज्योतिष व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक स्थितियों का समुचित आकलन करने में सक्षम है साथ ही ज्योतिष द्वारा किसी भी स्थिति का पूर्वज्ञान किया जा सकता है। पूर्वज्ञान होने पर योग द्वारा उसे नियन्त्रित किया जा सकता है। समस्त चराचर पर सर्वाधिक प्रभाव सूर्य और

---

१. ज्योतिर्विदाभरणम् २२.१०।

२. बृहत्संहिता २.३०।

चन्द्रमा का होता है। ज्योतिष में सूर्य को आत्मा का कारक तथा चन्द्रमा को मन का कारक कहा गया है। जैसे चन्द्रमा अतिशीघ्रगामी है वैसी ही मन भी अतिचञ्चल है। सूर्य उसे नियन्त्रित करता रहा है। सूर्य की प्रमुख सात राशियों में सुषुम्ना नामक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है तथा उसके अमृतत्व को पृथ्वी तक पहुँचाती है। जिससे सभी प्राणियों एवं वनस्पतियों में जीवन का सञ्चार होता है। व्यक्ति के सापेक्ष इनकी (सूर्य-चन्द्र) की विषम स्थिति अन्य ग्रहों के साथ इनके सम्बन्ध मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक असन्तुलन तथा शुभाशुभ परिवर्तनों के सूचक होते हैं। जब चन्द्रमा विशेष बलवान होता है तथा अशुभ ग्रहों के साथ सम्बन्ध रखता है, तब मनुष्य मन के प्रवाह में बहता है। उसमे उचित-अनुचित का विवेक समाप्त होने लगता है। जैसा मन चाहे वैसे कार्य में व्यक्ति प्रवृत्त होता रहता है। ज्योतिष ऐसी स्थिति में उसे नियन्त्रित करने के लिये मणि-मन्त्र और औषधि का निर्देश करता है ताकि उसकी प्रवृत्तियों में परिवर्तन आसके योगशास्त्र की प्रवृत्ति यही से होती है। योग की पहली सीढ़ी ही मन के प्रवाह को रोकना। "योगश्चित्तवृत्ति निरोध:" यदि मन नियन्त्रित नहीं हुआ तो केवल आसन-व्यायाम और प्रणायाम से सभी समस्याओं का समाधान नहीं होगा। योग में प्रवृत्ति मन के नियन्त्रण से ही होगी। कहा गया है—मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:। ज्योतिष शास्त्र भी यही कहता है—

**कर्मणा बन्धमायाति मोक्षमायाति कर्मणा**
**देवत्वमाप्नुयाज्जीवो राक्षसत्वञ्च कर्मणा।।**

यहाँ आशय यही है कि मन के प्रवाह में किये गये कर्मों से बन्धन एवं राक्षसत्व दोनों की सम्भावनायें होती हैं। तथा विवेक पूर्ण प्रवृत्ति से किये गये कार्यों से मनुष्य देवत्व और मोक्ष दोनों की ओर अग्रसर होता है। अत: मन का नियन्त्रण ही अधिकांश आपदाओं से मुक्त कर सकता है। किन्तु यह सरल नही है। गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यही कहा है—

**चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद् दृढम्।**

**तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव दुष्करम्।।** ६.३४

योगेश्वरं भगवान श्रीकृष्ण ने इसे स्वीकार करते हुये इसे नियन्त्रित करने का मार्ग भी बताया। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

**असंशयं महाबाहो मन दुर्निग्रहं चलम् ।**

**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।** ६.३५

अर्थात् —निःसन्देह मन सरलता से नियन्त्रण में आने वाला नहीं है। अत्यन्त चञ्चल है। फिर भी अभ्यास से मन को नियन्त्रित किया जा सकता है। दूसरा मार्ग वैराग्य है। वैराग्य से भी मन को नियन्त्रित किया जा सकता है। किन्तु वैराग्य भी सतत अभ्यास के बाद ही सम्भव है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार से योग को परिभाषित किया है। अभ्यास करने का ढंग बतलाते हुये कहा है कि—

**"सिद्ध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।"**

सिद्धि हो असिद्धि हो दोनों में समान भाव रखें। यह समभावत्व ही योग है। यदि व्यक्ति उपलब्धि में हर्ष और हानि में विषाद न करें तो वह योग मार्ग का पथिक हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता भी आज की अनेक समस्याओं के समाधान में सहयोगिनी हैं।

मन का विश्लेषण करते हुये दर्शनशास्त्र कहता है कि मन की चार अवस्थायें होती हैं। १. मन, २. बुद्धि, ३. अहंकार, ४. चित्त इनके कार्यों का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि मन से संशय, बुद्धि से निश्चय, अहंकार से गर्व तथा चित्त से स्मृति की उत्पत्ति होती है। इनके सत्वांशों के संयोग को अन्तःकरण कहा गया है।[१] इसी अन्तःकरण को अन्तरात्मा की आवाज कहा जाता है। यह अन्तःकरण तभी शुद्ध माना जाता है जब इनमें राजस और तामस भावों का अभाव तथा सात्विक भावों का उदय होता है।

---

१. मिलितैस्तु तैः अन्तःकरणमेकं स्यात् ।
तैः पञ्चभूतस्य सत्वांशैर्मिलितैः अन्तःकरणं भवतीति।। (वेदान्त दर्शने)

कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि कभी भी सात्विक भाव का उदय नही हो पाता, केवल राजस और तामस भावों का ही प्रभाव छाया रहता है। प्रयास के बाद भी तामस प्रभाव दूर नहीं होता। यहाँ ज्योतिष शास्त्र कहता है कि बहुत सी प्रवृत्तियाँ एवं व्याधियाँ मनुष्य के पूर्वजन्म से जुड़ी होती है। जैसा कि आचार्य वराहमिहिर ने कहा कि—

**यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम्।**

**व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव।।**

पूर्व जन्मार्जित कर्मों के अनुसार इस जन्म में मनुष्य शुभाशुभ का भोग करता है। ज्योतिष शास्त्र इन प्राप्तव्य शुभाशुभ परिणामों को उसी प्रकार दिखला देता है जैसे अन्धेरे में रखी हुयी वस्तु को दीपक। इसी प्रकार व्याधियों के सन्दर्भ में भी कहा है—

**पूर्वजन्म कृतं पापं व्याधिरूपेण जायते।।**

आयुर्वेद भी व्याधियों के सम्बन्ध में ज्योतिष के इस सिद्धान्त का समर्थन करता है। त्रिशठाचार्य ने भी यही कहा है—

**कर्मजा व्याधयः केचित् दोषजा सन्ति चापरे।**

दोषज व्याधियों का निदान एवं समाधान सरलतया हो जाता है। किन्तु कर्मज व्याधियों का निदान हो जाने पर भी समाधान नहीं हो पाता। अतः दोषज व्याधियों का समाधान चिकित्सा से तथा योग के माध्यम से दोषों का दमन कर किया जा सकता है।

ज्योतिष और योग के मूल में दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। योगशास्त्र में इडा पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। इन तीनों का सीधा सम्बन्ध ज्योतिष शास्त्र से है।

शरीर में प्रवहमान वायु इन्ही नाडियों के माध्यम से सञ्चरित होते हैं। इनमें चन्द्रमा से नियन्त्रित इडा नाडी, सूर्य से नियन्त्रित पिंगला नाडी तथा शम्भु (हंस=श्वाँस वायु) से नियन्त्रित सुषुम्ना नाडी है। सूर्य और चन्द्रमा की

प्रतिकूल स्थिति होने पर इडा और पिंगला नाडियों से प्रवाह वाधित होता है। इसी प्रकार दोषज कारणों से अथवा इडा-पिंगला के अनियन्त्रित होने से सुषुम्ना भी प्रभावित होती है। क्योंकि श्वाँस का सञ्चार भी उस परिस्थिति में प्रभावित हो जाता है। ऐसी स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए योग की आवश्यकता होती है। सभी नाडियों एवं वायु प्रवाहों पर नियन्त्रण कर योगी षट चक्रों की साधना की ओर प्रवृत्त होता है।

योग की परम साधना षट्चक्र भेदन है। सभी चक्रों का सम्बन्ध ग्रहों के साथ है। यथा—

| **क्र. सं.** | **चक्र** | **अधिदेवता** | **सम्बन्धित ग्रह** |
|---|---|---|---|
| १. | मूलाधार | गणपति | बुध एवं राहु |
| २. | स्वाधिष्ठान | विष्णु | शुक्र |
| ३. | मणिपूर | रुद्र | रवि |
| ४. | अनाहत | रुद्र | मंगल |
| ५. | विशुद्ध | रुद्र | चन्द्र |
| ६. | आज्ञा | रुद्र | गुरु |

स्वाधिष्ठान और विशुद्ध चक्र का भेदन कठिन होता है क्योंकि इन दोनों के साथ अत्यन्त शीघ्र गामी क्रमशः शुक्र और चन्द्र का सम्बन्ध है। अतः एकाग्रता एवं मन का नियन्त्रण बाधित होता रहता है। इन ग्रहों की प्रबलता के कारण कभी-कभी इन चक्रों तक पहुँच कर भी योगी असफल हो जाता है। विशुद्ध चक्र का भेदन हो जाने पर आज्ञा चक्र का भेदन गुरु कृपा से अपेक्षाकृत सहज में हो जाता है।

इन तथ्यों के आधार पर निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि आज के जीवन में बढ़ रही सभी समस्याओं का समाधान ज्योतिष और योग शास्त्र दोनों मिलकर सरलता पूर्वक कर सकते हैं।



# ज्योतिष में निहित योगशास्त्र

**यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।**
**ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।।** (विज्ञान भैरव २१)

ज्योतिषशास्त्र के साथ यदि योग की चर्चा करनी हो तो 'योग' शब्द के साथ 'शास्त्र' लिखना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि 'योग' ज्योतिष का पारिभाषिक शब्द भी है जो योगशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। चर स्थिर दो भेदों के साथ पञ्चाङ्ग का अङ्गभूत भी योग है। ग्रहों की युति को भी योग कहा जाता है तथा शुभाशुभ सूचक ग्रहों की विभिन्न स्थितियाँ भी योग सूचक होती हैं। यथा— राजयोग, अरिष्टयोग, नाभसयोग आदि किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत विशिष्ट रूप से वर्णित योगशास्त्र के कुछ अंशों पर प्रकाश डालने का प्रयास करूँगा, जो ज्योतिष के उक्त परिभाषित योगों से भिन्न हैं।

योग की परिभाषा बतलाते हुये योग सूत्र के आरम्भ में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[१] अर्थात् चित्तवृत्तियों का नियमन ही योग है। श्रीमद्भगवत्गीता में भी श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार से योग की परिभाषा दी है किन्तु सबका केन्द्रीभूत आधार मन ही सिद्ध होता है। गीता में तो मन को प्रमादी और दुर्निग्रह भी बताया है जो व्यवहार में भी प्रतिक्षण दृश्य है। ज्योतिषशास्त्र में 'मन' का कारक चन्द्रमा को माना गया है। भगवती श्रुति भी इसे पुष्ट करती है "चन्द्रमा मनसो जातः।"[२] ज्योतिषशास्त्र में सूर्य और चन्द्रमा की भूमिका अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक होती है। इसका मूल कारण है कि सभी ग्रह सूर्य की प्रमुख सात रश्मियों[३] से प्रकाशित होते हैं उनमें अपना स्वतः प्रकाश नहीं होता। अतः किसी भी ग्रह से परावर्तित रश्मि उस

१. पातञ्जल योग सूत्र।
२. ऋ. वे. १०/९०/१३, अथ यन्मन आसीत् स चन्द्रमा अभवत् (जै. ब्रा. २/२/२)
३. सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च।
विश्वव्यचा ततश्चान्यः संयद्वसुरतः परः।।
अर्वावसुरितिख्यातः स्वराडन्यः प्रकीर्तितः। कू. पु. १.४१.३-४।

ग्रह के प्रभाव के साथ सूर्य के भी गुणों का वहन करती है। चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का निकटतम अपना उपग्रह है अत: उसका गहन प्रभाव यहाँ की समस्त सृष्टि पर पड़ता है। वेद ने तो स्पष्ट रूप से कह दिया है ''अग्निसोमात्मकं जगत्'' यह समस्त सृष्टि ही अग्नि (सूर्य) और सोम (चन्द्र) मय है। पुराणों ने भी इसे दुहराया है—

**''नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठायोनिरेव च।**
**चन्द्रऋक्षग्रहा सर्वे विज्ञेया सूर्यसम्भवाः।।''**[१]

अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का कारण एक मात्र सूर्य ही है। सूर्य की सात रश्मियों में प्रथम रश्मि 'सुषुम्ना' चन्द्र को प्रकाशित करती है[२] तथा सुषुम्ना के माध्यम से चन्द्रमा अमृत स्राव पृथ्वी पर करता है जिससे जीव-जन्तु एवं लता वृक्षादि में जीवन-संचार होता है ''यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'' के सिद्धान्तानुसार इसी सुषुम्ना के माध्यम से योगीजन अपने कपालकुहर में जिह्वा प्रवेशकर अमृत पान करते हैं।[३] इसका विवेचन हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट रूप से किया गया है। इनमें इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये नाडियाँ ही प्रधान है। इडा का सम्बन्ध चन्द्रमा से, पिंगला का सम्बन्ध सूर्य से तथा सुषुम्ना का सम्बन्ध शम्भु से हैं। यहाँ शम्भु को हंस स्वरूप बताया गया है। हंस उस वायु को कहते हैं जिससे श्वसन क्रिया संचालित होती है।

सुषुम्ना रश्मि का सम्बन्ध सीधा चन्द्र से है किन्तु सुषुम्ना नाडी का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ प्रकारान्तर से हैं। हमारे शरीर में दश नाडियाँ तथा दश वायु परस्पर अन्योन्याश्रित भाव से स्थित है। प्रत्येक नाडी एवं उससे सम्बन्धित वायु का विवरण इस प्रकार है[४]—

| क्र. | नाडी | सम्बन्धित वायु |
|---|---|---|
| १. | इडा | प्राण |
| २. | पिङ्गला | अपान |
| ३. | सुषुम्ना | समान |
| ४. | गान्धारी | उदान |
| ५. | हस्तिजिह्विका | व्यान |

| क्र. | नाडी | सम्बन्धित वायु |
|---|---|---|
| ६. | पूषा | नाग |
| ७. | यशा | कूर्म |
| ८. | व्यूषा | कृक |
| ९. | कुहू | देवदत्त |
| १०. | शङ्खिनी | धनञ्जय |

१. मत्स्य पु. १२७.२९।

२. द्र. हठयोगप्रदीपिका ४.४५।

३. सुषुम्न: सूर्यरश्मिस्तु पुष्णाति शिशिरद्युतिम्।। कूर्म पु. १.४१.४।

४. नरपतिजयचर्या हंसचार: ६,७।

इन्हीं तीनों नाडियों से शरीरस्थ वायु का ज्ञान किया जाता है किन्तु इन तीनों का ज्ञान कैसे हो इसके लिए ज्योतिष का स्वरशास्त्र कहता है—

**"इडानाडी स्थितश्चन्द्रः पिङ्गला भानुवाहिनी।**
**सुषुम्ना शम्भुरूपेण, शम्भुर्हंसस्वरूपकः।।"[१]**

यहाँ सुषुम्ना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि सुषुम्ना शम्भुरूप है तथा शम्भु हंस स्वरूप है। हंस का अभिप्राय श्वाँस की निर्गम और प्रवेश की क्रिया से है। 'ह'कार निर्गम को (श्वाँस का नासिकारन्ध्र से बाहर आना) तथा 'स'कार प्रवेश को (श्वाँस का नासिकारन्ध्र से भीतर प्रवेश करना) व्यक्त करता है। यही 'हंस' है तथा यहीं अजपाजप[२] भी है। यह सुषुम्ना 'ह'कार रूप में शम्भु तथा 'स'कार रूप में शक्ति का परिचायक है। इन दोनों का सम्बन्ध इडा और पिंगला नाडियों से हैं। अर्थात् इडा नाडी चन्द्र शक्ति (वायु) को धारण कर नासिका के वामरन्ध्र से प्रवाहित होती है तथा पिंगला नाडी सूर्य वायु को लेकर नासिका के दक्षिणरन्ध्र से प्रवाहित होती है। इन दोनों रन्ध्रों से प्रवाहित होने वाली वायु शम्भुरूप हकार एवं शक्तिरूपी सकार से युक्त होती है। अतः स्पष्ट है कि इडा और पिंगला (चन्द्र-सूर्य) दोनों नाडियाँ सुषुम्ना के सहयोग से ही प्रवाहित होती हैं।

इन स्वरों का प्रवाह भी सूर्य और चन्द्र की गति के अनुसार ही होता है। सर्वविदित है कि सूर्य और चन्द्रमा के आधार पर ही तिथियों की गणना होती है तथा तिथि के अनुसार चन्द्रकलाओं में ह्रास और वृद्धि का क्रम निरन्तर चलता रहता है। अतः तिथियों के अनुसार प्रत्येक चान्द्र मास के शुक्ल प्रतिपदा से तृतीया पर्यन्त प्रातः काल चन्द्र स्वर नासिका के वाम रन्ध्र से वायु का सञ्चार करता है तथा चतुर्थी से षष्ठी पर्यन्त प्रातः प्रथम सूर्य स्वर द्वारा नासिका के दक्षिण रन्ध्र से वायु का सञ्चार होता है। इसी प्रकार सप्तमी से नवमी तक प्रथम चन्द्रस्वर, दशमी से द्वादशी तक सूर्य तथा त्रयोदशी से पूर्णिमा तक चन्द्र स्वर चलता है। कृष्ण पक्ष में शुक्लपक्ष के विपरीत स्वरों का उदय होता है। ज्योतिषशास्त्र में यात्रा, पथिक, जय-पराजय, आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर इन्हीं स्वरों के माध्यम से भी देने का विधान है। यथा—

**चन्द्रोदये यदा सूर्यश्चन्द्रः सूर्योदये यदा।**
**अशुभं हानिरुद्वेगस्तद्दिने जायते ध्रुवम्।।**

---

१. नरपतियर्चा हंसचारः ९।

२. सकारो बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः।। विज्ञान भैरव, पृ. १७३ श्लो. १५३।

**यात्राकाले विवाहे च वस्त्रालङ्कारभूषणे।**
**शुभकर्मणि सन्धौ च प्रवेशे च शशी शुभः।।**[1] इत्यादि

स्वर सञ्चार के साथ तथा सभी ग्रहों के साथ पञ्च महाभूतो का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। इन महाभूतों के अनुसार व्यक्ति के स्वास्थ्य का परीक्षण किया जाता है। ग्रहों के महाभूतों का उल्लेख करते सूर्यसिद्धान्त[2] में कहा गया है—

**अग्निषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः।**
**तेजो भूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे।।**

सूर्य अग्नि तथा चन्द्र सोम है। इनके अतिरिक्त भौमादि पाँच ग्रह क्रम से तेज (अग्नि), भू (पृथ्वी), आकाश, जल एवं वायु तत्वों से युक्त होते हैं। ये पाँच तत्व उक्त तीन नाडियों का आश्रय कर श्वाँस के साथ प्रवाहित होते हैं। इन महाभूतों के संचरण का विवेचन समर सार[3] में, अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ भिन्न किन्तु विशिष्ट रूप से किया गया है। हृदय में अष्टदल कमल की कल्पना की गई है तथा प्रत्येक पंखुड़ी के दो भाग किये गये हैं। पंखुड़ी के एक भाग में आरोह क्रम से ३० स्वर आकाश तत्व का चलता है अनन्तर ३०-३० की वृद्धि से क्रमशः वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तत्व चलते हैं। पंखुडी के दूसरे भाग में अवरोह क्रम से उतनी ही संख्या में स्वरों का संचार होता है। अर्थात् आरोह क्रम से आकाश ३० + वायु ६० + अग्नि ९० + जल १२० + पृथ्वी १५० कुल योग ४५० स्वर। इसी प्रकार अवरोह क्रम से १५० पृथ्वी + १२० जल + ९० अग्नि + ६० वायु + ३० आकाश कुल योग ४५० स्वर। यही क्रम आठों पंखुड़ियों में ईशानादि क्रम से होता है। उक्त क्रम से एक पंखुड़ी के आरोह ४५० + अवरोह ४५० स्वरों का योग ९०० स्वर (श्वाँस) के तुल्य होता है। आठों पंखुड़ियों में स्वर संख्या = ९०० × ८ = ७२०० आठों दलों में स्वर की एक परिक्रमा ७२०० स्वरों के साथ पूर्ण होती है। २४ घण्टों (एक अहोरात्र) में अष्टदलों में श्वाँस (स्वर) की तीन आवृत्ति होती हैं। अतः एक अहोरात्र मे स्वरों (श्वाँसों) की संख्या = ७२०० × ३ =

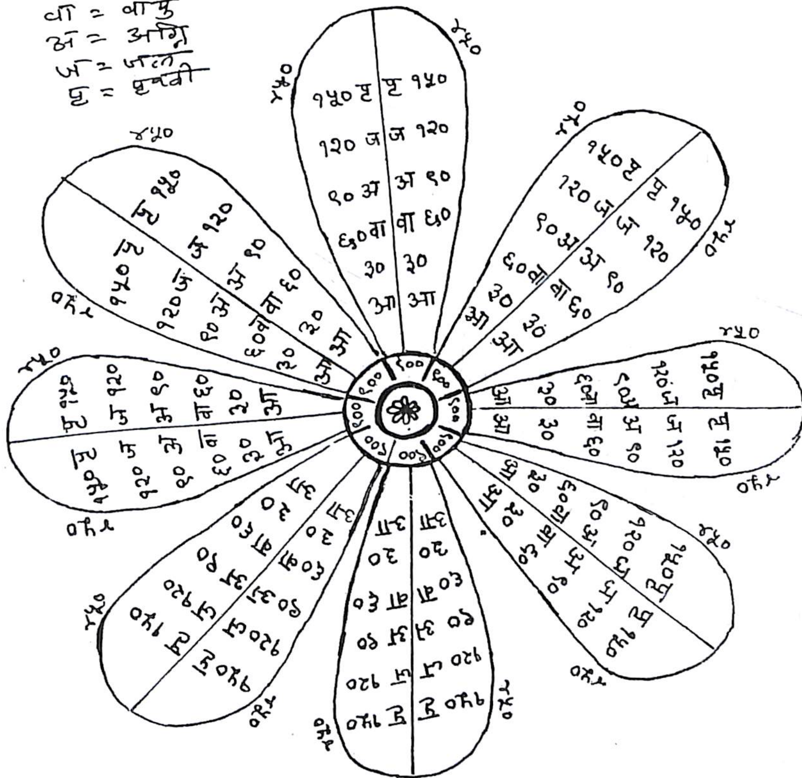
१. नरपतिजयचर्या हंसचारः १६, १८।

२. सू. सि. १२. २४।

३. नागैर्नीचैःर्निधिज्ञाश्रयनशुकमितैः श्वासपर्यायकैः वात्यभं वातोऽनलोऽम्बुक्षितिरपृथगुपर्यन्तं राधोप्यृजुत्वे। व्यत्यासाच्चावनीतो हृदयकमलजे पत्र एकत्र तेन श्वास्त नानाधिसंख्याननरस कमलेऽहर्निशोस्त्रिभ्रभेऽत्र।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| नागै = ३० | नीचेः = ६० | निधि = ९० | ज्ञाश्रयः = १२० | नभुक = १५० |
| अभ्रं | वातः | अनलः | अम्बुः | क्षितिः |

२१६००। यहीं संख्या योगशास्त्र ने बतलाई है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य की १ अहोरात्र में २१६०० श्वसन क्रिया होनी चाहिये। इससे न्यूनाधिक क्रिया पंचमाहभूतों में विकृति की सूचक है जो अस्वस्थता का संकेत माना जाता है। स्पष्टता हेतु श्वाँस चक्र (हंस चार) के चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है।



जन्मकालिक ग्रहों की स्थिति एवं बलाबल के आधार पर पञ्च महाभूतों की प्रकृति एवं विकृति का ज्ञान सरलता से किया जाता है किन्तु स्वरों (श्वाँसों) के आधार पर महाभूतों (तत्त्वों) को पहचानना सतत् अभ्यास पर निर्भर करता है। श्वाँस की दिशा और वेग के आधार पर तत्त्वों का ज्ञान सम्भव हो पाता है। आकाश तत्त्व की श्वाँस का वेग अत्यन्त अल्प तथा जल तत्त्व का वेग सर्वाधिक होता है।

नासिका रन्ध्र से एक अंगुल तक आकाश तत्त्व तथा १६ अंगुल तक जल तत्त्व का वेग प्रतीत होता है।

सभी तत्वों के स्वर को ज्ञात करने के लिए विधि बताई गई है।[१] १६ अंगुल की सीधी लकड़ी लेकर उसे एक-एक अंगुल पर चिन्हित कर लें। पुन: उस लकड़ी को नासिका रन्ध्र के पास रख कर श्वाँस के वेग का अवलोकन करें। १६ अंगुल तक वेग होने पर जल तत्त्व, ४ अंगुल तक तेजस् तत्व, १२ अंगुल तक वायु तत्त्व, ७ अंगुल तक पृथ्वी तत्त्व तथा १ अंगुल तक आकाश तत्त्व सिद्ध होता है।

इन तत्वों के परिणाम बतलाते हुये समरसार कहता है[२] —

**धराम्बुनी शुभे महो विमिश्रितं फलं भवेत्।**

**मरुन्नभश्च दु:खदे मते स्वरार्थवेदिभि:।।**

अर्थात् पृथ्वी और जलतत्त्व शुभफलदायक, अग्नि तत्व मिश्रित (शुभ + अशुभ) फलदायक, तथा वायु और आकाश तत्त्व दु:खदायक होते हैं। ऐसा स्वरशास्त्रियों का कथन है। अत: कोई भी शुभाशुभ कार्य करना हो तो तदनुकूल स्वर देख कर कार्य करने से कार्य सिद्धि होती है।

सूर्य और चन्द्र की नाडियाँ अष्टदल कमल के दो-दो पंखुड़ियों का भोग

---

१. नरपतिजयचर्या, हंसचार: ४९-५०।

२. समरसार: ४१।

पाँच-पाँच घटियों तक करती है। इस अवधि में दो-दो बार विहित प्रमाणानुसार पञ्चमहाभूतों के स्वरों की भी आवृत्ति आरोह एवं अवरोह क्रम से होती है। इनका सम्यग् अभिज्ञान होने के बाद इनके द्वारा अपना तथा प्रश्नकर्त्ता के सभी शुभाशुभ समयों एवं परिणामों का ज्ञान सरलतया होता है। यथा कहा गया है—

**अर्केऽग्नितत्ववहने हरिहेलया यद् एकोऽपि हन्ति सुबहून किमुतात्रचित्रम्।**

**शून्ये रिपून् स्वपृतनामपि वाहपक्षे निक्षिप्य विक्षिपति लक्षमरीन् क्षणेन।।**[१]

आशय यह कि सूर्यनाड़ी में अग्नि तत्त्व का प्रवाह होने से अकेले व्यक्ति भी अनेक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार अनेक योगों तथा स्वरों से मिलने वाले संकेतों के उल्लेख ग्रन्थों में मिलते हैं साथ ही प्रश्नों के फलादेश हेतु स्वरों एवं नाड़ियों के अनुसार विचारणीय विषयों का उल्लेख किया गया है—

**चन्द्रे वहे नृपविलोकनगेहवेश पट्टाभिषेकमुखकर्ममनेच्छुभं यत्।।**

**सौरे तु मज्जनवधूरतिभुक्तियुद्धमुख्यं भवेदशुभकर्मफलाय सत्यम्।।**[२]

इस प्रकार योग की एक धारा स्वरशास्त्र से जुड़ जाती है, तथा दूसरी धारा ग्रहों से सम्बन्धित योग और ज्योतिष दोनों का साथ-साथ प्रतिपादन करती है। यौगिक क्रियाओं के मूल में जब हम दृष्टिपात करते हैं तो शरीरस्थ षट्चक्रों का ज्ञान होता है। ये षट्चक्र ही योग के आधार है तथा इनका भेदन ही योग की चरम परिणति है। इनका भेदन तत्तद् चक्रों से सम्बन्धित ग्रहों की अनुकूलता पर निर्भर करता है। षट्चक्र और उनसे सम्बन्धित ग्रहों के उल्लेख के पूर्व मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि ब्रह्माण्डस्थ ग्रहकक्षा का क्रम तथा शरीरस्थ ग्रहकक्षा का क्रम किञ्चित अन्तरित होता है। श्रीमद्भागवत् में वर्णित ग्रहकक्षा का क्रम प्रत्यक्षत: विरुद्ध लगता है। यथा—

---

१. समरसार: ४३।

२. समरसार: ४६।

**"एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनतः।।"**[1]

सूर्य की कक्षा से १ लाख योजन ऊपर चन्द्रमा की कक्षा है। जबकि भारतीय ज्योतिष में चन्द्रमा की कक्षा से ऊपर सूर्य की कक्षा कही गई है। क्योंकि भारतीय ज्योतिष में ग्रहों की कक्षा भूकेन्द्रित वर्णित है।[2] जब हम सूर्य केन्द्रित कक्षा का विचार करेंगे तब सूर्य से ऊपर चन्द्र की कक्षा स्वतः सिद्ध हो जाती है और श्रीमद्भागवत का वचन यथार्थ लक्षित होता है। योगशास्त्र में भी नाभि मण्डल में सूर्य का स्थान ब्रह्म रन्ध्र में अमृत का स्थान कहा गया है। आयुर्वेद में भी केन्द्र में सूर्य और सूर्य से ऊपर चन्द्रमा का वर्णन है।[3] इसी प्रकार अन्य ग्रहों की स्थिति में भी कुछ मतान्तर दिखलाई पड़ता है जिसका समाधान सामान्य दृष्टि से नहीं दीखता है सम्भव है कोई योगी ही उचित समाधान दे सकेगा। यह अन्तर षट् चक्रों के साथ ग्रहों के सम्बन्धों को देखने से प्रतीत होता है। (अध्यात्म ज्योतिष के अनुसार तालिका)

| क्र. सं. | षट्चक्र | अधिष्ठाता देवता | प्रभावी ग्रह |
|---|---|---|---|
| १. | मूलाधार | गणेश | बुध/राहु |
| २. | स्वाधिष्ठान | विष्णु | शुक्र |
| ३. | मणिपुर | रुद्र | रवि |
| ४. | अनाहत | रुद्र | मंगल |
| ५. | विशुद्ध | रुद्र | चन्द्र |
| ६. | आज्ञा | रुद्र | गुरु |
| ७. | सहस्रार | रुद्र | शनि |

---

१. भाग. ५.२२.८; अग्निपुराणेऽपि — भूमेर्योजनलक्षन्तु वसिष्ठ! रविमण्डलम्।
रवेर्लक्षेण चन्द्रश्च लक्षन्नाक्षत्रमिन्दुतः।। १२०.६।

२. मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः।
परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्था सिद्धविद्याधरा: घना:।। सू. सि. १२.३१।

३. वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित् सोमस्य मण्डलम्।
तन्मध्ये मण्डलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः।। भा. पु. १.४२।

छठें चक्र (आज्ञा चक्र) का भेदन कर सहस्रार में योगी प्रविष्ट होकर परम योगेश्वर रुद्र से साक्षात्कार करते हैं। इस यात्रा में ग्रहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गर्भस्थ शिशु के विकास क्रम में मासानुसार ग्रहों की स्थिति जिस प्रकार साधक एवं बाधक होती है ठीक उसी प्रकार योगी के मार्ग में ग्रह सहयोगी एवं बाधक होते हैं। "सद्सद् ग्रह संयोगात् पुष्टाः सोपद्रवास्ते च"[१] नियम सर्वत्र लागू होता है। योगी के लिए स्वाधिष्ठान और विशुद्ध चक्र भेदन करना अत्यधिक कठिन होता है। दोनों के नियामक ग्रह क्रमशः शुक्र और चन्द्र शीघ्रगामी हैं अतः मन का नियन्त्रण कठिन हो जाता है। इन दोनों के कारण वासनाओं और मानसिक चाञ्चल्य में वृद्धि हो जाती है। अतः इन ग्रहों की अनुकूलता योगी के लिए आवश्यक होती है। आचार्य वराहमिहिर ने प्रव्रज्या योग का निरूपण करते हुये कहा है—

**एकस्थैश्चतुरादिभिर्बलयुतैर्जाताः पृथग् वीर्यगैः**

**शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः।**

**माहेयज्ञगुरुक्षपाकरसितप्राभाकरीनैः क्रमात्**

**प्रव्रज्या बलिभिः समा परिजितैस्तत् स्वामिभिः प्रच्युतिः।।**[२]

अर्थात् यदि जन्म समय में चार या चार से अधिक ग्रह एक ही राशि में बलवान होकर स्थित हों तो प्रव्रज्या योग होता है। उन सभी ग्रहों में जो सर्वाधिक बलवान होता है उसी के अनुसार प्रव्रज्या होती है। यथा— यदि मंगल बलवान हो तो शाक्य (बौद्ध साधक), बुध बली हो तो आजीविक (लोकायत), गुरु बलवान हो तो भिक्षु (यति), चन्द्रबली हो तो वृद्धश्रावक (कपाली), शुक्र बलवान हो तो चरक (वैदिक), शनि बली हो तो निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) तथा रवि बलवान हो तो वन्याशन (कन्दमूल भक्षी) तपस्वी होता है।

---

१. लघुजातक ३.५।

२. बृहज्जातकम् १५.१।

इनमें प्रव्रज्या होने पर भी योगी होना आवश्यक नहीं है। ग्रहों की उच्च आदि विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार योग में प्रवृत्ति होती है, यदि ग्रह बलवान न हो तो प्रव्रज्या भंग भी हो जाती है। निष्कर्ष रूप में यह स्पष्ट है कि जब ग्रहों की अनुकूलता होगी तभी योग साधना में प्रवृत्ति होगी अन्यथा नहीं।

आचार्य वराहमिहिर ने एक सामान्य नियम बताया है। विशेष स्थिति में बिना चार ग्रहों की युति के भी एक-दो बलवान ग्रह भी स्थान विशेष में स्थित होकर योगी बनाने में सक्षम होते हैं। ग्रहों के स्वभावानुसार ही मनुष्य साधना के विभिन्न मार्गों में से कोई एक मार्ग चुनता है। कोई शैव परम्परा, कोई शाक्त परम्परा तथा कोई अघोर परम्परा का अनुसरण करता है।

साधना विधि विवेचन में मतान्तर होने से भी साधक भटक जाता है। यथा साधना के उपकरणों में पञ्च मकार की चर्चा आती है। कहा गया है—

**''मद्यं मासं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।**

**एते पञ्चमकराः स्युः मोक्षदायि युगे युगे।।''**[१]

**पीत्वा पीत्वा पुनर्पीत्वा यावत् पतति भूतले।**

**पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।**

इसका सामान्य अर्थ मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन ही ग्रहण किया जाता है। किन्तु ग्रन्थान्तरों में इसके विशेष अर्थ उपलब्ध होते हैं। यथा—

मद्य = चन्द्रमा से प्राप्त अमृत

मांस = खेचरी मुद्रा द्वारा कपाल कुहर से जिह्वाग्र में प्राप्त होने वाला अमृत

मीन (मत्स्य) = चौरासी आसन

मुद्रा = खेचरी, षण्मुखी, शाम्भवी आदि दस मुद्रायें

१. भैरव यामल (उद्धृत— अध्यात्मज्योतिष पृ. १५।

मैथुन = प्राण और अपान वायु का मूलाधार में मिलन

(कुर्याच्चन्द्रार्क योगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ)[१]

इडा और पिङ्गला नाडी जो क्रमश: चन्द्र और सूर्य की वाहिका हैं इनके माध्यम से इडा द्वारा प्राण वायु तथा पिङ्गला द्वारा अपान वायु मूलाधारचक्र में मिलती है, इसी को मैथुन कहा गया है। यहीं से साधना का श्रीगणेश होता है। इसके अधिष्ठातृ देव भी गणेश है। यहाँ चन्द्र और सूर्य का नाडियों के माध्यम से तथा बुध और राहु का कारकत्व के माध्यम से सम्मिलन होता है। यदि उक्त ग्रहों की सर्वथा अनुकूलता रही तो मूलाधार की सिद्धि (भेदन) सहज में हो जाती हैं। इस प्रकार योगशास्त्र का सम्बन्ध दो धाराओं में ज्योतिष के साथ जुड़ा हुआ है। इनमें स्वरशास्त्र वाली धारा आज भी प्रवहमान है। दूसरी धारा गहन होने के कारण तथा दैनिक व्यवहार में न होने के कारण बहुत प्रचलित नहीं है। स्वरशास्त्र का उपयोग राजाओं के समय में अधिक होता था। उस समय प्राय: युद्ध हुआ करते थे। राजा अपनी जीत सुनिश्चित करने के लिए स्वरों का प्रयोग किया करते थे। अत: स्वरशास्त्र में सामान्य शुभाशुभों के साथ-साथ युद्ध में जय-पराजय का विशेष उल्लेख मिलता है। स्वरशास्त्र की प्रशंसा में ग्रन्थाकारों ने लिखा है—

**''पत्त्यश्वगजभूपालैः सम्पूर्णा यदि वाहिनी**
**तथापि भंगमायाति नृपो हीनस्वरोदयी।।''**[२]

सभी प्रकार से हाथी, घोड़े तथा सैनिकों से सम्पन्न राजा भी यदि हीन स्वरों वाला है तो उसका पतन हो जाता है। इसी प्रकार आगे कहा है कि वे वीर सैनिक तभी तक अपनी भुजाओं के बल से युद्धरूपी समुद्र में तैरते है जब तक वे स्वरचक्र के वडवानल में नहीं पड़ते।

**''तावत्तरन्ति ते धीरा दोर्भ्यामाहवसागरम्।**
**यावत्पतन्ति नो चक्रे स्वरास्ते बडवानले।।''**[३]

---

१. या नाडी सूक्ष्म रूपा परम पदगतासेवनीया सषुम्ना सा कान्ता लिंगनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरीवारयोषित्। कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे यगपवनगते मैथुनं नैव योनौ योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम्।। भैरवयामल उ. अ. ज्यो. पृ. १६।

१. नरपतिजर्या स्व. प्र. ८।

२. नरपतिजयचर्या स्व. प्र. ९।

इतना ही नहीं यदि कोई राजा विना स्वर का ज्ञान किये यदि किसी प्रकार युद्ध जीत जाता है तो उसे घुणाक्षरन्याय ही समझना चाहिये या अन्धे के हाथ जैसे कोई चिड़िया लग गई हो।

**"कथाञ्चिद् विजयी युद्धे स्वरज्ञेन विना नृपः।**

**घुणवर्णोपमं तत्तु यथान्धचटकग्रहः।।"[१]**

राजा के लिए यहाँ तक कह दिया है कि जिस राजा के घर में एक भी स्वर शास्त्रज्ञ नहीं है उस राजा का राज्य केले के खम्भे पर टिका होता है।

**"यस्यैकोऽपि गृहे नास्ति स्वरशास्त्रस्य पारगः।**

**रम्भास्तम्भोपमं राज्यं निश्चितं तस्य भूपतेः।।"[२]**

वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र सृष्टि प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। अतः सृष्टि के जीव-जन्तु, मनुष्य एवं लता वृक्षादि सभी अंशों से इसका गहन सम्बन्ध है। हम किसी भी पक्ष में विचार करेगे तो किसी न किसी रूप में ज्योतिष का स्पर्श होगा ही। अध्यात्म का चिन्तन हो, या योग या समाधि का चिन्तन हो अथवा सांसारिक व्यवहार हो सर्वत्र ज्योतिष की सत्ता विद्यमान है। जब आधान से प्रसव तक तथा प्रसवकाल से शरीर के अवसान तक प्रतिक्षण जब ज्योतिष के प्रभाव से प्रभावित हैं तो मनुष्य शरीर से जुड़ी हुई योग या भोग की सभी अवस्थायें भी निःसन्देह प्रभावित होगी ही। अपवाद के रूप में ह. ने. काटवे ने अपने अध्यात्म-ज्योतिष नामक ग्रन्थ में योगी की कुण्डली का अत्यन्त रोचक स्वरूप उद्धृत किया है, जिसका आशय है कि दशमभाव में धैर्य रूपी पिता, चतुर्थभाव से क्षमा रूपी माता, सप्तमभाव से शान्ति रूपी पत्नी, पञ्चमभाव से सत्यरूपी पुत्र, नवमभाव से दया रूपी भगिनी, तृतीयभाव से मन संयम रूपी भ्राता, द्वादशभाव से सोने के लिए भूमि, तथा आकाश रूपी वसन तथा

---

१. नरपतिजयचर्या स्व. प्र. १०।

२. नरपतिजयचर्या स्व. प्र. ११।

द्वितीय (धन) भाव से ज्ञानामृत रूपी भोजन जिसे प्राप्त हो या जिसके ऐसे पारिवारिक सदस्य हों उस योगी को षष्ठ और अष्टम से सम्बन्धित (रोग, शत्रु तथा मृत्यु) किससे भय हो सकता है?

**"धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी।"**

**सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।।**

**शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्।**

**एते यस्य कुटुम्बिनः वद सखे कस्माद् भयं योगिनः।।"[१]**



१. उद्धृत अध्यात्म ज्योतिष, पृ. १६४।

# वास्तुशास्त्र का वैदिक एवं पौराणिक स्वरूप

वास्तु और वास्तुशास्त्र की कल्पना वैदिक काल से ही चली आ रही है। जब मनुष्य कुञ्जों और गह्वरों में रहता था तथा पृथ्वी पर आवासीय योजनायें नहीं थीं। उस समय मनुष्य अपनी सुरक्षा की दृष्टि से किसी प्रकार के सुरक्षित स्थान में अपना आवास बना लेता था। सर्वप्रथम पृथु ने पृथ्वी को समतल कर सुव्यवस्थित आवास की कल्पना की। अनन्तर पृथु ने ब्रह्मा से कहा— हे ब्रह्मन् ! आपके आदेश से मैंने पृथ्वी को समतल कर दिया है। अब आप इस पर नगर आदि की रचना करने का आदेश दें।[१] ब्रह्मा ने अपने चारों मुखों से विश्वकर्मा आदि की उत्पत्ति की। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के पूर्व मुख को विश्वभू, दक्षिण मुख को विश्वविद्, पश्चिम मुख को विश्वस्रष्टा तथा उत्तर मुख को विश्वस्थ कहा जाता है। ब्रह्मा के विश्वभू नामक सम्मुखस्थ मुख से विश्वकर्मा की, विश्वविद् नामक दक्षिण मुख से मय की, विश्वस्रष्टा नामक पश्चिम मुख से मनु की तथा उत्तर दिशा में स्थित विश्वस्थ नामक मुख से त्वष्टा की उत्पत्ति हुई।[२] ब्रह्मा ने अपने इन पुत्रों से कहा— तुम लोग पृथ्वी पर जाकर वैन्य (पृथु) की अभिलाषा के अनुसार नगर, ग्राम, पुर आदि की पृथक्-पृथक् रचना करो। विश्वकर्मा ने जगत्स्रष्टा ब्रह्मा को आश्वस्त करते हुए कहा— अब मैं स्वयं अपनी बुद्धि से सुर, असुर, उरगों, नागों, आदि के साथ-साथ पृथु एवं मनुष्यों के निवास हेतु सुन्दर पुरी, नगर, ग्राम, खर्वट (लघु ग्राम) आदि का

---

१. ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकारान् खेटखर्वटान्॥
प्राक् पृथोरिह नैतेषां पुरग्रामादिकल्पना।
यथा सुखं वसन्तिस्म तत्र तत्राकुतोभयाः॥
वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथनम् पृ. ५

२. वास्तुसार सं. ग्रह, प्राक्कथनम् पृ. ८

निर्माण करूँगा।[१] विश्वकर्मा ने सोचा ब्रह्मा के आदेश के अनुपालन में हमें कुछ कुशल शिल्पियों की आवश्यकता होगी। एतदर्थ चारों विश्वकर्माओं ने विभिन्न कार्यों में दक्ष एक-एक पुत्रों को जन्म दिया। विश्वकर्मा ने स्थपति को, मय नामक विश्वकर्मा ने सूत्रग्राही को, मनु नामक विश्वकर्मा ने तक्षक को तथा त्वष्टा नामक विश्वकर्मा ने बार्द्धकि को उत्पन्न किया। यह तो सर्व विदित है कि किसी भी निर्माण हेतु विभिन्न प्रकार के शिल्पियों की आवश्यकता होती है। कोई पाषाण विशेषज्ञ होता है, कोई काष्ठ विशेषज्ञ होता है तथा कोई धातु का ज्ञाता होता है। इन सभी विशेषज्ञों के संयुक्त प्रयास से कोई भी निर्माण कार्य संभव हो पाता है। प्राचीन वास्तुशास्त्र में इन विश्वकर्मा के पुत्रों का परिचय देते हुए लिखा है[२] कि—

**१. स्थपति–** सभी वेदों एवं शास्त्रों के ज्ञाता तथा निर्माण सम्बन्धी योजनाओं के विशेषज्ञ को स्थपति कहा जाता है। स्थपति की आज्ञा से ही सूत्रग्राही आदि कार्य करते हैं।

**२. सूत्रग्राही–**किसी भी योजना को सुनने समझने में कुशल तथा रेखाचित्र (मानचित्र) के निर्माण में निपुण को सूत्रग्राही कहा जाता है।

---

१. गत्वोर्विवैन्यनृपतेः प्रियं तव करिष्यति।
नगरग्रामखेटादीन् करष्यिति च पृथक् पृथक्।।
स्वयं करष्येऽहमथो निवासाय पृथोः पुरीम्।
विचित्रनगरग्रामखेटानतिमनोहरान्।।
वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथनम् पृ. ५

२. स्थपतिः सर्वशास्त्रज्ञो वेदविच्छास्त्रपारगः।
स्थापत्यधिकपतिर्यस्मात् तस्मात् स्थपतिरुच्यते।।
स्थपतेराज्ञया सर्वे सूत्रग्राह्यादयः सदा।
कुर्वन्ति शास्त्रादेशेन वास्तुवस्तु प्रयत्नतः।।
श्रुतज्ञः सूत्रग्राही च रेखाज्ञः शास्त्रवित्तमः।
विचारज्ञः श्रुतिज्ञश्च चित्रकर्मज्ञबार्द्धकिः।।
तक्षकः कर्मवित्सभ्यः सम्बान्धवदयापरः।
इहैव लोकस्य यत्कर्म सर्व तच्छिल्पिनां गुरुः।।
न लभ्यते तु यत्तस्मादेभ्यः सर्व प्रसाधयेत्।।
वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथनम् पृष्ठ-९

**३. बार्धकि**–किसी भी योजना को यथार्थ रूप में समझने में निपुण, वेदज्ञ तथा चित्रकला विशेषज्ञ को बार्धकि कहा जाता है।

**४. तक्षक**–निर्माण सम्बन्धी सभी कार्यों का ज्ञाता, कुशल कर्मियों से युक्त, शालीन तथा सभी प्रकार के शिल्पियों के गुरु को तक्षक कहा जाता है।

इन सभी के सहयोग से गृह, ग्राम, नगर आदि का निर्माण होता है, परन्तु इन सभी की एक साथ अनुपलब्धता पर इनमें से कोई एक भी समस्त निर्माण कार्य में सक्षम होता हैं, क्योंकि ये सभी सर्वगुण सम्पन्न हैं। फिर भी तक्षक के कुछ कार्य विशेष भी हैं। इन्हें काष्ठ विशेषज्ञ माना जाता है। जिस प्रकार आजकल भवनों के उपयोग में आने वाली तथा फर्नीचर हेतु उपयोगी लकड़ियाँ एवं प्लाई की दीमक, कीट, शीलन आदि से सुरक्षा हेतु विभिन्न रसायनों के प्रयोग किये जाते हैं उसी प्रकार पौराणिक काल में भी इनकी सुरक्षा की व्यवस्था थी। इस कार्य के विशेषज्ञ तक्षक माने जाते थे। तक्षक ही जंगलों से उचित वृक्ष का चयन करते थे तथा उस वृक्ष को काट कर उसके छिलके उतार कर उसे तीन मास तक पानी में डुबो कर रखते थे। तदनन्तर उसे जल से निकालकर ऊपरी सतह को काट कर लकड़ी को चौकोर बनाकर सुखा लेते थे। सूखने के बाद आवश्यकतानुसार चिराई कर उसे कार्य में लेते थे। इस प्रयोग से लकड़ी अधिक समय तक सुरक्षित एवं दृढ़ होती है तथा उसमें कीटादि का भय भी नहीं रहता है।

इस प्रकार एक सुव्यस्थित योजना के साथ पृथु के मनोनुकूल पृथ्वी पर ग्राम, खेट, खर्वट,पुरी और नगरों का निर्माण किया गया। यहीं से वास्तु शास्त्र का उद्‌गम हुआ। इसी के साथ-साथ वास्तु पुरुष की कल्पना आती है। यद्यपि वास्तु पुरुष की अवधारणा वैदिक काल में वास्तोस्पति देव विशेष के रूप में मिलती है। जिसकी आराधना यज्ञ में, यज्ञवेदी के निर्माण में तथा वैदिक हवनों में होती है। वास्तोस्पति की आहुति महत्वपूर्ण मानी जाती है। पौराणिक काल में वास्तोस्पति के दो स्वरूप सामने आते हैं। एक पुरुष रूप में दूसरा चक्र के रूप में। वास्तु पुरुष का वर्णन पुराणों में एक कथानक के रूप में आता है।[१]

---

१. संग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतित: स्वेदो महेशात्क्षितौ
तस्माद् भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावापृथिव्योर्महत्।
तद्देवै: रभसा विगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकम्
देवानां वसनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधै:।।

राजबल्लभमण्डनम् २.१

एक बार अन्धक और भगवान शिव में घोर युद्ध हुआ। युद्धश्रम से भगवान शिव के सिर से श्वेद (पसीना) का एक बिन्दु भूमि पर गिरा। उस बिन्दु से एक विशालकाय भयावह प्राणी की उत्पत्ति हुई, जिसने उत्पन्न होते ही पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को अत्यन्त भयभीत कर दिया। क्षण भर में उसने दैत्यों का नाश कर अपने निवास हेतु स्थान की याचना की। भगवान शिव ने प्रसन्न होकर आवास योग्य भूमि में निवास का आदेश दे दिया। भयभीत सभी देवताओं ने उसे पकड़ कर तथा उसके ऊपर आरूढ़ होकर तथा अधोमुख कर निवास भूमि का मार्ग दिखला दिया। देवताओं द्वारा उस पर आरूढ़ (वास) होने से उसे वास्तु पुरुष कहा गया।

यह वास्तुपुरुष भवन, पुर, नगर, तड़ाग, वापी, वन, यज्ञ आदि के निर्माण तथा इनके जीर्णोद्धार में सर्वत्र पूज्य होता है। कहा गया है कि वास्तु पुरुष की पूजा सुख के लिए की जाती है। इनकी पूजा न करना हानिकारक होता है।[१]

वास्तु पुरुष की स्थिति निर्माणस्थल में सदैव एक समान होती है। स्थल के ईशान कोण में सिर, वायव्य में हाथों की कुहनी और अग्नि कोण में पैरों के घुटने तथा नैऋत्य कोण में वास्तु पुरुष के पैर होते हैं।

वास्तुपुरुष के इस रूप का वर्णन पुराणों के अनुसार ही सभी वास्तु ग्रन्थों में भी मिलता है। दूसरा वास्तु का स्वरूप चक्रों के रूप में होता है। शतपद (कोष्ठक) चक्र, एकाशीति पद (कोष्ठक) चक्र, चतु:षष्टिपद चक्र आदि अनेक चक्र कार्यानुसार वास्तु ग्रन्थों में बतलाये गये हैं। इन चक्रों में अनेक देवताओं के स्थान होते हैं। यथा चतु:षष्टि पद चक्र के देवताओं के स्थान इस प्रकार हैं— पहले चौसठ कोष्ठकों का एक चक्र बना लें उसके मध्य में चार कोष्ठकों में ब्रह्मा का स्थान होता है। पूर्व में दो पदों में अर्यमा का स्थान निश्चित

१. प्रासादे भवने तडागखनने कूपे च वाप्यां वने।
जीर्णोद्धारे पुरे च यागभवने प्रारम्भ निर्वर्तने।।
वास्तो: पूजनकं सुखाय कथितं पूजां बिना हानये।
पादौ रक्षसि कं शिवेऽह्निकरयो: सन्धी च कोणद्वये।।
राजबल्लभमण्डनम् २.२

है, इन्हें गृहस्वामी भी कहा जाता है। दक्षिण के दो पदो में विवश्वान्, पश्चिम के दो पदो में मित्र तथा उत्तर के दो पदों में पृथ्वीधर का स्थान होता है। अग्न्यादि कोणों में आधे-आधे पद में क्रमशः सविता-सावित्र, इन्द्र-जय, राजयक्ष्मा-रुद्र, आप-आपवत्स का स्थान होता है। इसी क्रम से सभी देवों की स्थापना चक्र के बाहरी पदों में भी अग्न्यादि क्रम से अनिल, पूषा, वितथ, वृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, भृंगराज, मृग, पितर, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शोष, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट, सोम, भुजङ्ग, अदिति, दिति, शिखी, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र-सूर्य, सत्य, भृश, अन्तरिक्ष की स्थापना की जाती है। इनमें से अन्तरिक्ष-अनिल, मृग-पितर, रोग-यक्ष्मा, दिति एवं शिखि अर्द्धपदिक देवता है। पूषा, भृंगराज दौवारिक, शेष, नाग, अदिति, पर्जन्य, भृश सार्धपदिक देवता हैं।[४]

एकाशीति एवं चतुष्षष्टि प्रकार के वास्तु पुरुषों का विचार सर्वत्र किया जाता है। इनके स्थानानुसार ही आन्तरिक कक्षों का विन्यास किया जाता है। वास्तु नियमों से युक्त ग्रह को ही पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि हेतु उपयुक्त गृह माना जाता है।

**गृह का महत्व–** चारों वर्णों के भरण-पोषण का भार गृहस्थ के ऊपर ही होता है। अतः गृहस्थ को वास्तु शास्त्र सम्मत गृह का निर्माण आवश्यक हो जाता है। कहा गया है कि दूसरे के गृह में की गई सभी श्रौत-स्मात क्रियायें निष्फल होती हैं। उन क्रियाओं का फल गृहस्वामी ही प्राप्त करता है।[२] भविष्यपुराण में गृह के महत्व को बतलाते हुए कहा गया है—

---

१. चतुःषष्टिपदं कृत्वा मध्ये ब्रह्मा चतुष्पदः।
दक्षिणेन विवस्वाँश्च मित्रः पश्चिमतस्तथा। इत्यादयः।
अग्निपुराणम् २४७.२-१५

२. परगेह कृताः सर्वाःश्रौतस्मार्तादिकाः क्रियाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।
भविष्यपुराण उद्धृत वृहद्वास्तुमाला

**स्त्रीपुत्रादिकसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्**

**जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।**

**वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते**

**गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।**[१]

अथर्ववेद की प्पिलाद शाखा में गृह सूक्त है, जिसमें कामना की गई है कि ये गृह स्वयं ऊर्जा से सम्पन्न हों तथा दूध आदि पदार्थों एवं सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त होकर विराजमान हों तथा मेरे साथ मैत्री भाव रखें, जिससे हम इन्हें अच्छी तरह पहचान सकें। इन घरों में रहने वाले परस्पर मधुर भाषण करें, भूख-प्यास से पीड़ित न होकर प्रसन्नतापूर्वक रहें। इस घर के प्राणी प्रवासी होने पर भी हमसे जुड़े रहें। दूध घृत अन्न से तथा गौ आदि पशुओं से सदैव परिपूर्ण रहें। बहुत धन वाले मित्र इन घरों में आते रहें, प्रसन्नता के साथ स्वादिष्ट भोजन में सम्मिलित होते रहें। इन घरों में रहने वाले समस्त प्राणी व्याधियों से रहित होकर स्वस्थ एवं प्रसन्न रहें।[२]

इस प्रकार की उत्कृष्ट भावनाओं तथा सभी प्राणियों के प्रति सद्‌भाव के साथ गृह की परिकल्पना वैदिक वाङ्मय की देन है। इसीलिए गृह निर्माण के पूर्व उत्तम भूमि का चयन कर वास्तुचक्र में स्थित देवताओं की प्रकृति के अनुसार गृह निर्माण की विधि शास्त्रों में कही गई है।

गृह निर्माण के पूर्व की आवश्यक कर्त्तव्यता संक्षेप में इस प्रकार है—

१. जहाँ पर निवास करने की अभिलाषा हो उस क्षेत्र में सर्व प्रथम ग्राम या नगर का चयन करना चाहिए। इसके लिए निम्न बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक होता है—

---

१. भविष्य पुराण उद्धृत राजवल्लभमण्डनम् १.५

२. इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः। पूर्णा नामस्य तिष्ठन्तस्ते नो जानन्तु जानतः।।
सूनृतावन्तः सुभगा द्वरावन्तो हसामुदाः। अक्षुब्ध्या अतृष्यासो गृहानस्मद्बीतनः।।
येषां मध्ये प्रवसन् येषु सौमनसो बहु। गृहानुपह्वयाम यान् ते नो जानन्त्वायतः।।
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथोऽन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहे पुनः।।
उपहूता भूरिधनाः सखाय स्वादु सन्मुदः। अरिष्टाः सर्वपुरुषाः गृहा नः सन्तु सर्वदा।।
द्र. वास्तुसारसंग्रहः १.२१-२५

**१.१ अनुकूलता–** जिस स्थान पर गृह निर्माण करना हो उस स्थान की जलवायु का विचार सर्वप्रथम कर लेना चाहिए। शीत प्रकृति का व्यक्ति यदि उष्ण प्रदेश में निवासार्थ भूमि लेता है तो उसे निरन्तर शारीरिक कष्ट तथा मानसिक तनाव झेलना पड़ सकता है। इसी प्रकार उष्ण प्रकृति वाला शीत प्रदेश में सतत् कष्ट का अनुभव करेगा। अत: अपनी प्रकृति के अनुकूल ही जलवायु का होना सभी दृष्टियों से आवश्यक होता है।[४]

**१.२ दिशा–** ग्रामादि चयन के अनन्तर दिशा का निर्णय करना चाहिए। दिशा निर्णय का आशय यह है कि जहाँ से पञ्च महाभूतों की ऊर्जा समुचित रूप में प्राप्त हो रही हो वही दिशा उत्तम है।

**१.३ मास और राशियों की शुद्धि–** गृहस्वामी को ग्राम, मास और राश्यादि की शुद्धि का विचार कर लेना चाहिए। विविध वास्तु ग्रन्थों में इनके विवेचन उपलब्ध होते हैं।

**१.४ आय-व्यय–** आय-व्यय का विचार पिण्ड और काकिणी द्वारा किया जाता है। आय से व्यय कम होना चाहिए तथा अपनी काकिणी से स्थान की काकिणी अधिक हो तो शुभ होता है।

**२.भूखण्ड चयन–** भूखण्ड चयन करते समय आसपास के वातावरण तथा प्रतिवेशियों का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि उनका भी प्रभाव पड़ता है। यथा सचिवालय के समीप निवास करने से अर्थ हानि, धूर्त के समीप पुत्र का नाश, देवालय के समीप उद्वेग तथा चतुष्पथ पर गृह निर्माण करने से अपयश होता है। इसी प्रकार विशाल वृक्ष के समीप भूतादि पीड़ा, बल्मीक के ढेर पर विपत्ति, गड्ढे में अतृप्ति, ऊँची-नीची कटी-फटी तथा अस्थि से युक्त भूमि पर आयु एवं धन की हानि होती है।[२]

---

१. देशग्रामानुकूलत्वं दिशो भूतग्रहस्य च। मासधिष्ण्यादिकं शुद्धं वीक्ष्यायसंज्ञकम्।।
वास्तुसारसं. २.१.

२. सचिवालयेऽर्थनाशो धूर्तगृहे सुतबध: समीपस्थे।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पथे भवति चाकीर्ति:।।
.................... .... मुरजे बन्धुविनाशनम् ।।
वास्तुसार संग्रह ३.१-१७

**२.१ भूपरीक्षण–** भूमि के शुभाशुभत्व का ज्ञान करने के लिए अनेक विधियाँ बतलाई गई हैं, उनमें से किसी एक या एकाधिक विधि द्वारा भूपरीक्षण कर लेना चाहिए। ये विधियाँ प्राय: रूप रस और गन्ध पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त एक घनहस्त गड्ढा खोदकर उसमें मिट्टी या जल भर कर उससे भी शुभाशुभत्व का ज्ञान किया जाता है।

२.२ पुराणों में शकुन के आधार पर भी शुभाशुभ का निर्णय किया गया है। अन्त में गर्ग का वचन उद्धृत करते हुए कहा गया है कि जिस स्थान को देखकर नेत्रों और मन को प्रसन्नता प्राप्त हो तथा स्थान पर जाने से आह्लाद के साथ सन्तोष का अनुभव हो, उस स्थान को शुद्ध और पवित्र मानना चाहिए। उस स्थान पर गृह निर्माण किया जा सकता है।

इन विधियों से स्थान का चयन करने के पश्चात् निर्धारित विधि से गृहस्वामी के हस्त प्रमाण से पिण्ड का साधन करना चाहिए। पिण्ड में अभीष्ट विस्तार का भाग देने से लम्बाई का ज्ञान हो जाता है। लम्बाई-चौड़ाई का ज्ञान कर राहु मुख रहित दिशा से खातारम्भ तदनन्तर अग्निकोण में शिलान्यास करना चाहिए। शिलान्यास के समय भित्ति के निर्माण में यह सावधानी रखनी चाहिए कि यदि मिट्टी का भवन हो तो पिण्ड की रेखा (आउटलाइन) के भीतर ही दीवार हो, यदि ईंट की दीवार हो तो रेखा दीवार के मध्य मे तथा यदि पत्थर की दीवार हो तो रेखा से बाहर ही दीवार का निर्माण होना शास्त्र सम्मत होता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि द्वार के ऊपर द्वार तथा द्वार के सम्मुख द्वार का निर्माण न हो। ये सभी प्रारम्भिक सावधानियाँ गृहस्वामी और परिवार के लिए सुख कारक होती हैं।



# स्वप्न : कारण एवं निवारण

स्वप्न को लेकर अनेक विचार मन में आते-जाते हैं। कभी अत्यन्त प्रसन्नता होती है, कभी कष्ट तथा कभी-कभी भय की स्थिति आ जाती है। यह सब क्यों होता है? तथा स्वप्न क्यो आते हैं? यह अत्यन्त कौतूहल का विषय बन जाता है। जब हम इनके प्रभावों को देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वप्न कभी-कभी आगामी किसी घटना की पूर्व सूचना देते हैं, कभी-कभी निरर्थक होते हैं, तथा कभी-कभी हर्ष अथवा विषाद के भाव मन पर देर तक के लिए छोड़ जाते हैं। इनके कारणों को जानने के लिए हमें अपने शरीर की अवस्थाओं को जानना आवश्यक होगा।

हमारे शरीर की प्रतिदिन तीन अवस्थायें होती हैं। १. जाग्रत, २. सुषुप्ति और ३. स्वप्न।

१. जाग्रत अवस्था में मानव पूर्ण चैतन्य होता है, उसकी सभी इन्द्रियाँ क्रियाशील एवं चैतन्य होती हैं। मनुष्य अपनी इच्छानुसार तथा अपनी कल्पनानुसार कार्य करता है।

२. सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य की सभी इन्द्रियाँ शिथिल एवं चेतना शून्य हो जाती हैं। उन्हें किसी क्रिया का आभास नहीं होता है। पूर्ण निद्रा की अवस्था ही सुषुप्ति अवस्था होती है।

३. स्वप्न अवस्था जाग्रत एवं सुषुप्ति के बीच की होती है। इसमें शरीर शिथिल एवं संज्ञान शून्य होता है, किन्तु मन सक्रिय रहता है, जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक अचेतन मन कहते हैं। जब मनुष्य न सुप्तावस्था में हो न जागृत अवस्था में हो तो एक अद्भुत स्थिति बन जाती है। इस अवस्था में अनेक प्रकार के दृश्य दिखलाई पड़ते हैं। स्वयं वह व्यक्ति उस दृश्य का एक सक्रिय पात्र होता है। स्वप्न में दौड़ना, उड़ना, डूबना, तैरना, भोजन करना, क्रीड़ा करना, भयभीत होना आदि क्रियाएँ यथार्थत: प्रतीत होती हैं। इतना ही नहीं

स्वप्न देखने वाला व्यक्ति उन समस्त घटनाओं से सम्बन्धित हर्ष एवं विषाद का अनुभव भी करता है। वस्तुतः अतीत की घटनायें अचेतन मन में बिना किसी क्रम के दृश्य होती है। जिसे स्वप्न कहा जाता है।

स्वप्नों का विश्लेषण करने से इनके कारणों का ज्ञान होता है। आयुर्वेद में स्वप्नों के सात भेद बतलाये गये हैं। 'स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः' के अनुसार क्रम से १. दृष्ट, २. श्रुत, ३. अनुभूत, ४. वातज, ५. पित्तज, ६. कफज तथा ७. भावज ये सात प्रकार के स्वप्न होते हैं। उनमें से प्रथम तीन दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत अतीत की घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। इनके बाद के तीन शारीरिक असन्तुलन से सम्बन्धित हैं। इन्हें वातज, पित्तज एवं कफज कहा जाता है। अन्तिम सातवाँ भेद भावज कहलाता है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वप्न माना जाता है, क्योंकि यह भावी किसी घटना की सूचना देता है तथा यह रात्रि के अन्त में तथा ब्राह्ममुहूर्त के पूर्व आता है। अन्य स्वप्नों का कोई काल नहीं होता, वे किसी भी समय आ सकते हैं।

**स्वप्नों के लक्षण–**

**१. दृष्ट–** पूर्व में देखी गई कई घटनाओं का मिश्रण एक नये रूप में दिखाई देता है। जैसे कहीं एक वृक्ष देखा था, कहीं एक तालाब देखा था कहीं पर बन्दरों को उछलते कूदते देखा था। ये सारी घटनाएँ एक मिल कर स्वयं को तालाब किनारे के वृक्ष पर उछलते कूदते देखना या वृक्ष के नीचे गिरना स्वप्न में दीख सकता है। इस प्रकार का स्वप्न दृष्ट कहलाता है।

**२. श्रुत–** कभी कहीं पर सुनी गई कोई घटना या घटनायें या उससे मिलती जुलती घटना स्वप्न में आना श्रुत स्वप्न कहलाता है।

**३. अनुभूत–** कभी-कभी व्यक्ति अनेक प्रकार के चिन्तन में मग्न रहते हुए सो जाता है तथा वह चिन्तन उसके मस्तिष्क में विद्यमान रह जाता है, तो वही अवसर पाकर दृश्य रूप में दिखलाई पड़ता है। जिसे अनुभूत स्वप्न कहते हैं।

**४. वातज–** शरीर में वायु विकार बढ़ जाने से मनुष्य अपने आपको हवा

में उड़ता हुआ देखता है या दौड़ने का प्रयास करता है, किन्तु दौड़ने से असमर्थ पाता है। ऐसी स्थिति में स्वप्न को वातज स्वप्न कहते हैं।

**५. पित्तज–** पित्त प्रकोप से जब निद्रा बाधित होती है; उस समय अग्नि की ज्वाला, पीली वस्तुएँ तथा हिंसक पशु, शेर, बाघ आदि दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार के स्वप्न को पित्तज कहते हैं।

**६. कफज–** कफज प्रकोप होने पर स्वप्न में प्यास का लगना, पानी में डूबना, तैरना आदि जलीय स्वप्न आते हैं, इन्हें कफज स्वप्न कहते हैं।

**७. भावज–** इसमें मृत व्यक्तियों द्वारा कुछ पाना, उन्हें देना, प्रिय व्यक्ति का वियोग, अपनी मृत्यु, सर्पदंश आदि सुखद एवं दुखद दोनों प्रकार के स्वप्न आते हैं जो कभी विपरीत कभी यथावत् होने वाली घटनाओं का संकेत देते हैं। इस प्रकार के संकेत सूचक स्वप्नों को भावज स्वप्न कहा गया है।

इन सात प्रकार के स्वप्नों में केवल भावज स्वप्न का ही शुभाशुभ विचार ग्रन्थों में दिया गया है। अन्य सभी स्वप्न विकार जन्य होते हैं, इसलिए उनका कोई भी शुभाशुभ परिणाम नहीं होता।

भावज स्वप्न के कुछ उद्धरण ग्रन्थों के आधार पर दिये जा रहे हैं जिससे उनकी सत्यता एवं उनकी प्रामाणिकता के संकेत मिल सकेंगे।

श्री रामचरित मानस में त्रिजटा अपने स्वप्न का वर्णन करते हुए कहती है—

**सपनेहु बानर लंका जारी जातुधान सेना सब मारी।**
**खर आरूढ नगन दससीसा मुण्डित सिर खण्डित भुजबीसा।**
**एहि बिधि सो दक्षिण दिसि जाई लंका मनहु बिभीषण पाई।**
**नगर फिरी रघुवीर दुहाई तब प्रभु सीता बोलि पठाई।**
**यह सपना मैं कहौं पुकारी होइहि सत्य गये दिन चारी।**

(सुन्दरकाण्ड)

सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) के जन्म के पूर्व उनकी माता ने श्वेत हाथी को स्वप्न में देखा था। साथ ही उन्हें एक शिशु का भी दर्शन हुआ था। उसके बाद सिद्धार्थ का जन्म हुआ।

इस प्रकार अनेक स्वप्न की घटनाओं के वर्णन ग्रन्थों में हैं, सबका उल्लेख यहाँ सम्भव भी नहीं है। हमारे आपके जीवन में भी अनेक बार स्वप्न की घटनाएं चरितार्थ हुई होगी। आवश्यकता है उनके विश्लेषण की। शकुन प्रसङ्ग में स्वप्नों के शुभाशुभ लक्षणों का विशद विवेचन किया गया है। उन ग्रन्थों से इनके परिणाम भली-भाँति जाने जा सकते हैं।

स्वप्न विवेचना को आगे बढ़ाते हुये कुछ आचार्यों ने स्वप्न के भेदों को ७ से बढ़ाकर ९ तक पहुँचा दिया है। उनके मतानुसार नव भेद इस प्रकार हैं— श्रुतं तथानुभूतं च दृष्टं तत् सदृशं तथा। चिन्ता च प्रकृतिश्चैव विकृतिश्च तथा भवेत् । देवा: पुण्यानि पापानि इत्येवं जगतीतले। स्वप्नग्रहा: नव भुवि भावा: भवन्ति हि। अर्थात् श्रुत अनुभूत, दृष्ट, चिन्ता, प्रकृति, विकृति, देव, पुण्य और पाप ये नव भेद होते हैं।

आधुनिक कुछ मनोवैज्ञानिकों के मत कुछ भिन्न हैं, उनका कहना है कि मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ ही स्वप्न में आती है। इच्छाओं को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि मनुष्य की इच्छाएँ चार प्रकार की होती हैं।

१. ज्ञात इच्छा— जो इच्छा सरलता पूर्व जानी जा सके।

२. अज्ञात इच्छा— वह इच्छा जो मन में रहती है पर प्रकट नहीं हो पाती है।

३. अपरिस्फुट इच्छा— ऐसी इच्छायें जो ज्ञात होती हैं किन्तु मन में उठती और विलीन होती रहती हैं । इनका कोई स्पष्ट चित्र नहीं बन पाता।

४. अनुमानेच्छा— अपरिस्फुट इच्छाओं में से कुछ का अनुमान लगा लेना किन्तु स्पष्ट ज्ञान न होना।

५. इच्छाभाष— वे इच्छाएँ जो मन में आभासित हों किन्तु उन पर मन का ही विश्वास न हो।

६. अज्ञात इच्छा— जिन इच्छाओं के उदय या अस्त का ज्ञान न हो सके।

इस प्रकार कुछ लोगों ने ६ प्रकार तथा कुछ लोगों ने केवल चार प्रकार ही बलतायें हैं। अस्तु मेरा उद्देश्य मात्र इतना है कि हम जितने स्वप्न देखते हैं उन सभी के शुभाशुभ परिणामों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधिकांश स्वप्न शारीरिक विकार तथा मानसिक इच्छाओं से जुड़े होते हैं। उन विकारों या इच्छाओं की परिणति ही स्वप्न है।

जाग्रत अवस्था की अपेक्षा स्वप्न में विपरीत स्थिति होती है। गथा बहुत आनन्दित करने वाली वस्तुयें स्वप्न में अशुभ तथा गन्दे और विभत्स स्वप्न प्राय: शुभफलद ग्रक होते हैं।

यदि स्वप्न अच्छे आते हैं तो मन आनन्दित रहता है। यदि बुरे या डरावने स्वप्न आते हैं तो जागने के बाद भी मन खिन्न या भयभीत रहता है। ऐसी स्थिति में मन को स्वस्थ करने हेतु निम्नलिखित उपचार बतलाये गये हैं।

१. प्रात: काल सूर्य को अर्घ्य देकर उनके १२ नामों का स्मरण करें।

२. प्रात: काल निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करना चाहिए न्यूनतम १२ बार—

**वाराणस्याः दक्षिणे कोणे कुक्कुटो नाम ब्राह्मणः।**

**यस्य स्मरणमात्रेण दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्।।**

३. काशीवासियों को चाहिए प्रात:काल दुर्गाकुण्ड स्थित कुक्कुटेश्वर महादेव का दर्शन एवं पूजन करें।

४. अपने इष्ट देव का स्मरण करें अथवा ध्यान करें।

उक्त उपचारों से मन को बल मिलता है तथा स्वप्न जन्य दोष भी दूर होते हैं।



# ज्योतिषशास्त्र की जीवन में उपयोगिता

ज्योतिषशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के जन्म-जन्मान्तरों से जुड़ा हुआ है। इसलिए ज्ञात-अज्ञात अवस्था में भी निरन्तर हमें ज्योतिषशास्त्र किसी न किसी रूप में प्रभावित करता रहता है। ज्योतिषशास्त्र का दूसरा नाम कालविधान शास्त्र है। क्योंकि काल का निरूपण भी ज्योतिषशास्त्र द्वारा ही होता है। काल के प्रभाव के सम्बन्ध में "कालाधीनं जगत् सर्वम् " तथा "काल: सृजति भूतानि काल: संहरते प्रजा:" ये सूक्तियाँ ही पर्याप्त हैं। मानव जीवन काल तथा कर्म के आधीन होता है। जैसा कि आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है—

**"यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाऽशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।**
**व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।"**

अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मानुसार ही मनुष्य का जन्म उसकी प्रवृत्तियाँ उसके भाग्य का निर्माण होता है। कर्म का विवेचन करते हुए कर्मविपाकसंहिता कहती है—

**कर्मणा नरकं सूत स्वर्गं याति च कर्मणा ।**
**देवत्वं प्राप्नुयाज् जीवो राक्षसत्वं च कर्मणा।।**
**कर्मणा बन्धमायाति मोक्षमायाति कर्मणा ।**
**कर्मणा पतनोच्छ्रायौ नृणां जन्मनि-जन्मनि।।**

(वृद्धसूर्यारुणकर्मविपाकसंहिता)

इन सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने कर्मों के आधीन अपने भविष्य का निर्माण करता है। जब हम शरीर के केवल सुख और दु:ख का विचार करते हैं तो सर्वप्रथम मनुष्य की आयु तथा स्वास्थ्य का प्रश्न सामने आता है। लिखा भी है—

**" पूर्वमायुः परीक्ष्येत ततो लक्षणमादिशेत् " (पंचस्वराः)**

अर्थात् जब मनुष्य का जीवन रहेगा तभी वह अपने शारीरिक सुखों एवं दु:खों का उपयोग करेगा। "शरीरं व्याधिमन्दिरम् " यह उक्ति स्पष्ट दर्शाती है कि व्याधियों का स्थान शरीर ही है। व्याधियाँ शरीर नष्ट होने के बाद भी जीव का साथ नहीं छोड़ती हैं। ये अन्य जन्मों में भी शारीरिक कष्ट देती रहती हैं।

इसलिए आचार्यों ने कहा है "कर्मजा व्याधयः केचित् दोषजाः सन्ति चापरे" अर्थात् कुछ व्याधियाँ कर्मों के कारण होती हैं तथा कुछ वात, पित्त, कफ आदि दोषों के कारण होती हैं। इसकी प्रकार "पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते" यह उक्ति भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती है। प्रमुख रूप से व्याधियाँ तीन प्रकार की होती हैं। साध्य, असाध्य एवं याप्य। इनमें असाध्य व्याधियाँ प्रायः कर्मज होती हैं। साध्य व्याधियाँ प्रायः दोषज होती हैं। याप्य व्याधियों में प्रायः दोनों की संभावना होती है। असाध्य व्याधियों की प्रायः दो अवस्थाएं होती हैं। १. गर्भस्थ विकृतिजन्य । २. प्रसवोत्तर विकृतिजन्य।

**१. गर्भस्थ विकृतिजन्य** - गर्भस्थ शिशु के विकास में अवरोध उत्पन्न कर विभिन्न अवयवों में विकार उत्पन्न होना, अंगहीनता, अधिकांग, विकलाङ्ग आदि स्थितियाँ प्रायः असाध्य होती हैं। इनके ज्ञान के लिए ज्योतिषशास्त्र में आधानकाल के आधार पर ग्रहों की स्थितियों का अवलोकन करने का विधान है। गर्भ के मासानुसार विकास क्रम तथा प्रत्येक मासों के अधिपति ग्रह पूर्व निर्दिष्ट हैं—

**कललघनावयवास्थित्वग्रोमस्मृतिसमुद्भवाः क्रमशः।**
**मासेषु शुक्रकुजजीवसूर्यचन्द्रार्किसौम्यानाम्।।**

लघुजातक - आधानाध्याय श्लो. ६

**शीर्षमुखबाहुहृदयोदराणि कटिवस्तिगुह्यसंज्ञानि ।**
**उरू जानू जङ्घे चरणाविति राशयोऽजाद्याः ।**
**कालनरस्यावयवान् पुरुषाणां चिन्तयेत्प्रसवकाले ।**
**सदसद्ग्रहसंयोगात् पुष्टाः सोपद्रवास्ते च ।।**

ल. जा. रा. बलाध्याय श्लो. ४,५

प्रत्येक मासों के अधिपति ग्रहों के अनुसार गर्भस्थ शिशु के विकासक्रम का तथा अवरोध या विकृति का ज्ञान किया जाता है। ग्रहों के प्रभाव से प्रसवकाल से पूर्व गर्भपात अथवा समय से पूर्व प्रसव का ज्ञान भी सम्भव होता है।

**''सभानुजे शीतकरे विलग्नात् दिवाकरे रिष्फगृहोपयाते ।**
**धरासुते बन्धुगते तदानीं विपद्यते साजननी सगर्भा'' ।।**

जा. परि. अ. ४ श्लो. ९

**२. प्रसवोत्तर व्याधिः -** कभी-कभी प्रसव के अनन्तर किसी व्याधि के परिणामस्वरूप अथवा किसी घटना के फलस्वरूप अंग-क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। जिनमें कुछ की चिकित्सा सम्भव हो पाती है तथा कुछ की चिकित्सा असम्भव होने के कारण असाध्य हो जाती है। इस प्रकार के रोगों के पूर्वज्ञान का स्रोत एकमात्र ज्योतिषशास्त्र है। उदाहरणार्थ कुछ योग प्रस्तुत हैं जिनसे कुछ असाध्य रोगों का ज्ञान सहज में किया जा सकता है।

**ह्रस्वदीर्घअंग- लग्नादिराशयः शिरः प्रभृतिकालाङ्गेषु कल्प्या : ।।**
**यत्राङ्गे दीर्घराशिर्दीर्घभपश्च तद्दीर्घं व्यस्ते ।**
**ह्रस्वं मिश्रे मिश्रं ग्रहानाक्रान्तराशिश्चेद्राशि यत् ।।**
**बुधात्सप्तमे भौमे दीर्घदेहः ।। लग्नपे दीर्घभे दीर्घदेह : ।।**

जातकतत्वम् - प्रथमविवेक सूत्र-२९-३२

अर्थात् लग्नादि राशियों को कालपुरुष के विभिन्न अङ्गों में स्थापित करना चाहिए। जिस अङ्ग में दीर्घ, ह्रस्व राशि और उसका स्वामी जिस अङ्ग में हो वह ह्रस्व अथवा दुर्बल राशि का होता है। मिश्रराशि (कर्क, मिथुन, धनु और मकर) और उनके स्वामी जिन अंशों में हो वह अङ्ग सामान्य आकार का होता है। बुध से सप्तम भाव में यदि भौम स्थित हो तो जातक दीर्घतनु होता है। लग्नेश यदि दीर्घराशि में स्थित हो तो भी जातक दीर्घतनु होता है।

**विकलाङ्ग योगः–**

**केन्द्रस्थाः क्रूराः विकलाङ्ग :।। केन्द्रगौ पुष्यवन्तौ विकलाङ्गः।।**
**लग्ने शुक्रमन्ददृष्टे श्रोणिभागे वैकल्यम् ।। तुर्ये शुक्रे**

**मन्दाराज्ञान्यतमयुते जीवे करचरणकट्यन्यतमे वैकल्यम् ।।**
**चन्द्रे खे भौमेऽस्ते मन्दे वेशिगे विकलाङ्गः ।।**
**सुताङ्के भौमे क्रूरैर्दृष्टे हीनाङ्गः।। मन्देऽर्थे खे चन्द्रे**
**ज्ञेऽस्ते विकलाङ्गः।। नीचगाः शुक्रेन्दुमन्दाः कुम्भेऽर्के विकलाङ्गः।।**

अर्थात् यदि केन्द्र क्रूराक्रान्त हो केन्द्र में सूर्य और चन्द्रमा स्थित हो, लग्नस्थ शुक्र शनि से दृष्टि हो तो कटिभाग से, चतुर्थ भाव में शुक्र हो और मंगल, शनि या बुध के साथ बृहस्पति का योग हो तो क्रमशः पैर, हाथ या कटि भाग से, दशम भाव में चन्द्रमा, सप्तम भाव में मंगल और शनि वेशिस्थान में स्थित हो, पंचम अथवा नवम भाव में स्थित भौम पापग्रहों से दृष्ट हो, द्वितीय भाव में शनि, दशम भाव में चन्द्रमा तथा सप्तम भाव में बुध हो, शुक्र चन्द्रमा और शनि नीचराशिगत हो और कुम्भराशिगत सूर्य हो तो उक्त सभी योगों में जातक विकलाङ्ग होता है।

आयुर्वेद के अनुसार कभी-कभी साधारण रोग भी असाध्य हो जाते हैं यथा ज्वर एक सामान्य रोग है किन्तु कभी-कभी ज्वर भी विशेष लक्षणों के उत्पन्न होने पर असाध्य एवं घातक हो जाता है, यथा—

**आरम्भाद्विषमो यस्तु चयश्च वा दैर्घरात्रिकः ।**
**क्षीणस्य चातिरुक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ।।**
**विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ।**
**शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ।।**
**यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ।**
**वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ।।**
**हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ।**
**सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नर क्षपयति ज्वरः ।।**
**हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ।**
**गम्भीरतवीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।।**

माधवनिदान (ज्वररोगनिदान श्लो. ६९-७४)

अर्थात् जिसका ज्वर प्रारम्भ से विषम हो जाता है, (कोई समय न हो या) जो बहुत दिनों तक ज्वर बना रहे, ज्वर से पुरुष अतिक्षीण हो अथवा शरीर बहुत रूखा हो तो वह गम्भीर ज्वर उसे मार डालता है। ज्वर वाला मूर्च्छित हो, मोह में पड़ा रहे, विस्तर पर पड़ा सोता रहे, बिना उठाए उठ न सके और ऊपर से बहुत जाड़ा लगे परन्तु अन्तःकरण में दाह बना रहे यह ज्वर असाध्य होता है, इससे प्राणी नहीं जीता, मर जाता है। जिस ज्वर वाले के रोम सदा खड़े रहें, नेत्र लाल बनें रहें, हृदय में कुछ गाँठ-सी बंधकर पीड़ा करे, मुख से श्वाँस अधिक निकले उस पुरुष को वह ज्वर मार डालता है। जिस ज्वर वाले को हिचकी, श्वास, पिपासा हो और वह मूर्च्छित रहे, नेत्र इधर-उधर घुमाया करे, निरन्तर वेग से श्वाँस लेता रहे और शरीर उसका बहुत क्षीण हो गया हो, अरुचि हो, सब अङ्गों से पीड़ित हो, गम्भीर और तीक्ष्ण वेग से अत्यन्त पीड़ित हो, वैद्य को चाहिए कि ऐसे ज्वर वाले को छोड़ दे, उसकी औषधि से उपचार न करें।

इसी प्रकार अन्य रोगों में भी विषम लक्षण उत्पन्न होने पर व्याधियाँ असाध्य हो जाती हैं जिनका उल्लेख माधव निदान आदि ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध है। कारण ज्ञात हो जाने पर व्याधियों के निवारण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। परन्तु आवश्यक नहीं है कि सभी असाध्य व्याधियों का पूर्णरूप से समाधान किया जा सके। उपचार हेतु शास्त्रज्ञों ने औषधि, दान, जप, होम आदि का विधान किया है।

जैसे कि कहा गया है—

**जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते।**

**तच्छान्तिरौषधैदर्निर्जपहोमसुरार्चनैः** ।। वीरसिंहावलोक पृ. ४

कुछ विद्वानों ने उपचार पद्धति को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है— १. मणि, २. मन्त्र, ३. औषधि।

**१. मणि :–** ग्रहों की प्रकृति के अनुसार रत्न, धातु आदि भौतिक साधनों के प्रयोग से ग्रहों के प्रभाव का शमन करना।

**२. मन्त्र :–** ग्रहों के मन्त्र, व्याधिनाशक विविध मन्त्रों एवं स्तोत्रों के जप एवं पाठ तथा शिव आदि देवों के अर्चन, ग्रहों से सम्बन्धित पदार्थों के दान द्वारा समाधान।

**३. औषधि :–** आयुर्वेदादि विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों द्वारा व्याधियों के अनुसार निर्दिष्ट रसायनों का प्रयोग। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि शरीर का नियन्त्रण वात पित्त कफ इन त्रिधातुओं से होता है। इनमें किसी भी धातु के कुपित होने पर उस धातु से सम्बन्धित व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अत: जिन क्रियाओं अथवा रसायनों से धातुओं में समता बनी रहे वही पद्धति या कार्य चिकित्सा है—

**याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।**

**या चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम् ।।** वी. सिं. ज्वरा-१२

इस प्रकार आधानकालिक अथवा जन्मकालिक ग्रह स्थिति के आधार पर व्याधियों का ज्ञान कर तथा उसकी असाध्यता का निर्णय कर समाधान का प्रयास करना चाहिए। कभी-कभी व्याधियों के नियन्त्रण में केवल चिकित्सा से सफलता नहीं मिलती है उस परिस्थिति में मणि, मन्त्र औषधि आदि विधियों का प्रयोग, विकृत होकर असाध्यता की ओर बढ़ रही व्याधियों के समाधान में सहायक होता है।

शारीरिक दृष्टि एवं लोकोपयोगिता की दृष्टि से ज्योतिषशास्त्र का उपयोग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी ज्योतिष शास्त्र की महत्वपूर्ण भूमिका अनुभव की जाती है। इसे भी दो भागों में विभक्त कर देखा जा सकता है।

**१. आधानकाल –** इच्छित सन्तान की प्राप्ति के लिए तथा स्वस्थ एवं बुद्धिमान सन्तति के लिए उचित काल का निर्धारण कर आधान काल का चयन करना ज्योतिष द्वारा संभव है तथा गर्भकाल के संस्कारों हेतु ज्योतिष द्वारा शुभ समयों का चयन किया जाता है, जिससे बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास समुचित ढंग से होता रहे।

**२. प्रसवोत्तरकाल –** यदि उपयुक्त काल में आधान नहीं हुआ हो तो प्रसव के अनन्तर नवजात शिशु के पालन-पोषण में ज्योतिष बहुत सहायक होता है। नवजात शिशु की शारीरिक स्थिति का ज्ञान कठिन होता है ऐसी स्थिति में शिशु को प्रारम्भिक व्याधियों से सुरक्षा हेतु ज्योतिष शास्त्र के

अनुसार समुचित निर्देश लाभकारी हो सकते हैं। अत: सर्वप्रथम बालारिष्ट और उनके शमन के उपायों का चिन्तन करना चाहिए। यथा:—

**'' सुतमदननवान्त्यलग्नरन्ध्रेष्वशुभयुतो मरणाय शीतरश्मिः ।**
**भृगुसुतशशिपुत्रदेवपूज्यैर्यदि बलिभिर्न युतोऽवलोकितो वा ।।''**

लघुजातक-अरिष्टाध्याय श्लो. १०

अर्थात् चन्द्रमा यदि जातक के जन्मलग्न में पाँचवें, छठें, सातवें, आठवें, नवें एवं बारहवें भाव में हो तो बालारिष्ट होता है, ऐसी स्थिति में प्राय: देखा जाता है कि नवजात शिशु दूध पीने के बाद वमन कर देता है तथा कुछ दिनों के अन्तराल पर विरेचन भी करता है। यदि चन्द्रमा के साथ राहु भी युक्त हो अथवा सम्बन्ध रखता हो तो कष्ट में वृद्धि हो जाती है। इस अवस्था में सुधार लाने हेतु परम्परा से प्राप्त निम्नलिखित विधि प्राय: लाभप्रद सिद्ध होती है।

**विधिः–** गाय का दूध, गाय का घृत, मधु, पलाश की समिधा और दूर्वा (यदि श्वेत दूर्वा हो तो अति प्रशस्त) इन पाँचों वस्तुओं को एक में मिलाकर चन्द्रमा एवं राहु के वैदिक मन्त्रों से १०८-१०८ आहुति देने से तत्काल लाभ होता है, यह क्रिया अनेक बार अनुभूत है। साथ में चाँदी एवं लाजावर्त धारण कराना लाभप्रद होता है। क्रमश: बालक की आयुवृद्धि एवं विकास के साथ उनके प्रवृत्तियों को अनुशासित करने में भी ज्योतिष समुचित दिशा निर्देश देता है। कुछ बालक स्वभावत: हठी, उग्र एवं प्रतिक्रियावादी होते हैं। ऐसे शिशुओं को अनुशासित करने के लिए कभी भी बल प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि बल प्रयोग करने से उनकी प्रतिक्रिया अपेक्षा के विपरीत होती है तथा हठवादिता में वृद्धि होती है। ऐसे शिशुओं को सामान्य स्थिति में लाकर प्रेमभाव से उन्हें समझाना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्तियों का पूर्वज्ञान जातक के जन्मलग्न, लग्नेश एवं लग्न स्थित ग्रहों के आधार पर किया जाता है। जन्म राशि की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्राय: देखा जाता है कर्क, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ लग्न में उत्पन्न बालक सूर्य, मंगल के योग से अत्यन्त उग्र

और प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। शनि एवं राहु-केतु के प्रभाव से उग्र एवं हठी तो होते हैं किन्तु अपने भाव को पूर्णरूप से प्रकट नहीं करते तथा एकान्त में अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं। ऐसे शिशु अधिक कठिन तथा दुर्बोध होते हैं। ऐसे शिशुओं की मनोवृत्ति के सुधार या परिवर्तन में नवग्रहों की शान्ति तथा विनायक शान्ति विशेष उपयोगी सिद्ध होती हैं।

कुमारावस्था आने पर बालकों एवं अभिभावकों के समक्ष शिक्षा क्षेत्र से सम्बन्धित समस्या उत्पन्न होती है। कुछ अभिभावक अपनी मनोवृत्ति के अनुसार अथवा अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए शिक्षा का निर्धारण करते हैं। संयोगवश यदि बालकों की ग्रहस्थिति अभिभावकों द्वारा निर्देशित शिक्षा के अनुरूप होती है तो बालक सरलता से उस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता है। कदाचित विपरीत हो तो बालक उस शिक्षा में संघर्ष करते हैं फिर भी सफल नहीं होते। उदाहरणार्थ मेधावी बालक को देखकर अभिभावक की प्रबल इच्छा प्रशासनिक क्षेत्र में भेजने की होती है। जातक के ग्रह योग उसे शिक्षा के तकनीकी, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में जाने के संकेत देते हैं तथा प्रशासन के अनुरूप कारक ग्रह नहीं होते हैं । ऐसी स्थिति में जातक बार-बार प्रयास के बावजूद असफल होते हैं तथा कुण्ठाग्रस्त होते हैं। यदि ज्योतिष शास्त्र का उपयोग किया जाये तो जिस क्षेत्र में जाने की संभावना प्रबल हो उसी क्षेत्र में भेजने का प्रयास किया जाए तो मेधावी छात्र सहज में सफल होते हैं तथा उनकी मेधा की वृद्धि भी होती है तथा वह छात्र स्वयं के लिए, परिवार के लिए, देश के लिए उपयोगी होता है। यथा—

**भिषक् योग –**

**अंशे ज्ञेन्दुशुक्रदृष्टे वा धने भिषक् ।। शुक्रेन्दुदृष्टेऽशे रसवादी ।।**

**सशुभा राह्वर्कावंशे पापयुतौ विषवैद्यः ।।** जातकतत्व-पंचमविवेक ३३-३५

अर्थात् कारकांश लग्न या द्वितीय भाव बुध, शुक्र और चन्द्रमा से दृष्ट हो तो जातक वैद्य होता है। कारकांश लग्न, शुक्र और चन्द्रमा से दृष्ट हो तो रसायनों का ज्ञाता होता है। कारकांश लग्न में सूर्य और राहु मिश्रित ग्रहों से युक्त हो तो जातक विष का ज्ञाता (संज्ञा शून्य करने वाला) होता है।

**वैयाकरण योग–**

**अर्थसुतयोरंशाज्जीवे वैयाकरण : ।।**

**बलिनि गुरौ तद्धेशे रविशुक्रदृष्टे शाब्दिक : ।।**

अर्थात् कारकांश लग्न से द्वितीय अथवा पंचम भाव में गुरु हो तो जातक व्याकरणशास्त्र का ज्ञाता होता है। द्वितीय भाव का स्वामी यदि बृहस्पति है और सूर्य एवं शुक्र से दृष्ट हो तो जातक भाषाविद होता है।

**गणितज्ञ योग –**

**अंशात्सोत्थे सुतेऽर्थे केतुजीवौ गणितज्ञः।।**

**धने भौमे शुभदृष्टे गणितज्ञः।।**

**चन्द्रारौ धने ज्ञदृष्टौ केन्द्रे बुधे वा कुंजे गणितज्ञः।।**

**धनेशे ज्ञे स्वोच्चे गुरौ लग्नेष्टमे मन्दे गणितज्ञः।।**

**स्वोच्चे गुरौ लग्नेऽष्टमे मन्दे गणितज्ञः।।**

**जीवे केन्द्रकोणे स्वोच्चे शुक्रे ज्ञेऽर्थेशे वा धने गणितज्ञः।।**

जातक तत्व पञ्चम विवेक ४३-४७

अर्थात् कारकांश लग्न से द्वितीय, तृतीय या पंचम भावों में बृहस्पति और केतु स्थित हों तो जातक गणित शास्त्र का ज्ञाता होता है। शुभग्रहों से दृष्ट मंगल यदि द्वितीय भाव में स्थित हो तो जातक गणितशास्त्र में पटु होता है। बुध से दृष्ट चन्द्रमा और मंगल द्वितीय भागवत हों अथवा बुध या मंगल केन्द्रस्थ हों तो जातक गणितशास्त्रज्ञ होता है। द्वितीय भाव का स्वामी बुध अपनी उच्चराशि में स्थित हो, बृहस्पति लग्न में और अष्टम भाव में शनि स्थित हो तो जातक गणितज्ञ होता है। केन्द्र या त्रिकोण में बृहस्पति, शुक्र मीन में और बुध द्वितीयेश होकर धन भावगत हो तो जातक गणितज्ञ होता है।

**क्रोधी योग–**

**दिवा बल्यारे खेऽङ्गे क्रोधी।। लग्ने अस्ते वा निर्बलारे शनिदृष्टे क्रोधी।।**

**लग्ने भौमे क्रोधी।। धने बलवती भौमे क्रोधी।।**

**त्रिकोणेऽल्पवीर्ये राशिपे क्रोधी ।। अन्त्याष्टमेऽङ्गेशे क्रोधी ।।**

**धनेशे गुलिकान्विते क्रोधी ।।** जा. त. विवेक-८६-९२

अर्थात् दिवा लग्न हो और बलवान भौम लग्न अथवा कर्मभाव में स्थित हो, लग्न या चतुर्थ भाव में निर्बल ग्रहस्थित हों, लग्न में भौम स्थित हो, द्यून भाव में भौम बलान्वित होकर स्थित हो, अल्पबलशाली राशीश यदि हो, लग्नेश यदि अष्टम अथवा द्वादश भावस्थ हो, धनभाव का स्वामी यदि गुलिक के साथ हो तो उक्त सभी स्थितियों में जातक क्रोधी होता है।

**विद्रोही योग–**

**सोत्थे भौमे ज्ञचन्द्रे दृष्टे द्रोही ।। लग्नेशे ज्ञे षष्ठे द्रोही।। लग्नेशे निर्बले द्रोही।।**

जातक तत्व - प्रथम विवेक - १०१-१०३

अर्थात् तृतीय भावस्थ भौम यदि चन्द्रमा और बुध से दृष्ट हो, लग्नेश बुध यदि षष्ठभावगत हो, अथवा लग्नेश बलहीन हो तो जातक द्रोही होता है।।

शिक्षा के अनन्तर जीविका चयन में भी ज्योतिष प्रबल भूमिका निभाता है। किसी-किसी जातक के ग्रह योग योग्यता के अनन्तर भी व्यवसाय में प्रवृत्त करने वाले होते हैं, ऐसे युवकों को निःसंकोच व्यवसाय की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। जिनके अन्दर व्यवसाय एवं सेवा दोनों के योग हों उन्हें व्यावसायिक संस्थानों में सेवा का अवसर मिलता है। तथा जिनके केवल सेवा का योग होता है वे व्यवसाय में सफल नहीं होते। उन्हें केवल सेवा कार्य ही चुनना चाहिए। इन सब के ज्ञान के लिए होराशास्त्र के ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है जिनका मनन-चिन्तन एवं उपयोग करने से मनुष्य अपने एक-एक क्षण का सही समय पर तथा सही दिशा में उपयोग कर सकता है। यथा—

**वाणिज्य योग-तुलांशे वाणिज्यवान् ।। सौम्येंऽशे वा कर्कांशे वाणिज्यवान् ।। ज्ञारयोगे वाणिज्यवान् ।।**

अर्थात् कारकांश लग्न में यदि तुला राशि हो तो जातक वाण्जियकर्मरत होता है।। कारकांश लग्न यदि बुध से युत हो अथवा कर्क राशि कारकांश लग्न हो तो जातक व्यापारी होता है। मंगल और बुध की युति यदि जन्माङ्ग में

उपस्थित हो तो जातक बाणिक् - कर्मरत होता है।

**व्यापार योग –**

**राज्ये शुभदृष्ट्याधिक्ये व्यापारी ।। खे ज्ञे व्यापारी ।। खाङ्गेशयोगे व्यापारी । खेशे केन्द्रायकोणे शुभदृष्टे व्यापारी ।। खेऽङ्गेशे व्यापारी।। खेशे स्वर्क्षे शुभयुते व्यापारी मानशीलः ।।**

जातक तत्व दशमविवेक १-६

अर्थात् दशम भाव पर शुभग्रहों की दृष्ट्याधिक्य हो तो जातक व्यापारी होता है। दशमभाव में बुध की स्थिति जातक को व्यापारी बनाती है। दशमेश यदि लग्नेश से युत हो तो जातक व्यापारी होता है। दशमेश यदि केन्द्र में, एकादशभाव में अथवा त्रिकोण में स्थित होकर शुभग्रहों से दृष्ट हो तो जातक व्यापारी होता है। लग्नेश यदि दशमभावगत हो तो जातक व्यापारी होता है। दशमेश दशमभाव में शुभग्रहों से युत हो तो जातक व्यापार से आजीविका प्राप्त करता है।

**राज्यकर्मचारी योग–**

**सार्केंऽशे राज्यकार्यकर्त्ता।। केन्द्रेऽर्के राजकार्यकर्त्ता केन्द्रे कोणे चन्द्रे राजकार्यकर्त्ता।। राज्येशे लाभे केन्द्रे वा राज्यकार्यकर्त्ता।। लग्नाम्बुगे जीवे राजकार्यकर्त्ता।।**

अर्थात् कारकांश लग्न यदि सूर्य से युत हो तो जातक राजकर्मचारी होता है। सूर्य यदि केन्द्रस्थ हो तो जातक राजकर्मचारी होता है। चन्द्रमा यदि केन्द्र अथवा कोणगत हो तो जातक राजकर्मचारी होता है। दशमभावधिपति यदि केन्द्र में अथवा एकादशभाव में स्थित हों तो जातक राजकर्मचारी होता है। बृहस्पति यदि लग्न या चतुर्थभाव में स्थित हो तो जातक राजकर्मचारी होता है।

ज्योतिषशास्त्र की सहायता से बालक की मनोवृत्ति तथा उसके विकास की सम्भावनाओं को जानकर सही दिशा एवं निर्देशन दिया जा सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्योतिषशास्त्र मानव जीवन के लिए हर क्षेत्र में सहयोगी एवं कल्याणकारी है।



# शिक्षा में ज्योतिषशास्त्र की उपयोगिता

१. प्रारम्भिक शिक्षा

२. गुरुकुल (अरण्यशिक्षा )

३. विशिष्ट (उच्च) शिक्षा

४. चार विद्यायें

५. शिक्षार्थी के लक्षण

६. शिक्षण विधि

७. ज्योतिष और विद्या

८. ज्योतिष द्वारा गुणवत्ता में वृद्धि

९. ज्योतिष का नियामकत्व

# वैदिक कालीन शिक्षण

[प्रस्तुत निबन्ध की सामग्री व्याख्यानात्मक ढंग से नहीं थी। यह व्याख्यान ट्रान्सपरेन्सी द्वारा मौखिक रूप से दिया गया था। ट्रान्सपरेन्सी की भी सभी प्रतियाँ सुरक्षित नहीं थी। पर्याप्त अन्वेषण के बाद यत्र तत्र बिखरी कुछ प्रतियाँ मिली उन्हीं के आधार पर कुछ सामग्री दी जा रही है। पूर्ण सामग्री उपलब्ध न होने से कई अपूर्ण निबन्धो का संग्रह यहाँ नहीं किया गया है, किन्तु इस निबन्ध के कारण ही मुझे प्रेरणा मिली थी इसलिए इसके जितने अंश उपलब्ध थे उनको व्यवस्थित कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जो अंश अति संक्षिप्त थे उनको सुगम करने की दृष्टि से मैने पिताश्री से चर्चा की। वार्ता से भी जो कुछ प्राप्त हुआ उसे भी यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ। — सम्पादक]

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा का विवेचन करते हुये कहा गया हैं—

शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः-स्वरः-मात्राबलम् -साम-सन्तानः।

इत्युक्तः शिक्षाध्यायः ।। (तै. उ. १.२.१)

शिक्षा के अङ्ग—

१. वर्ण, २. स्वर, ३. मात्रा, ४. बल, ५. साम, तथा ६. सन्तान।

**१. वर्ण-** अकारादि १६ स्वर तथा क कारादि ३३ व्यञ्जन।

**२. स्वर-** शब्दों के उच्चारण की विधि।

**३. मात्रा-** ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत मात्रांओं का उच्चारण।

**४. बल-** वर्ण, स्वर और मात्राओं के योग से शब्द के बल का ज्ञान। यथा रामः शब्द का अः एकवचन व्यक्त करता है, किन्तु मात्रा के परिवर्तन से रामाः का आः बहुवचन का सूचक हो जाता है।

**५. साम-** शब्दों का ज्ञान हो जाने पर उनके समान ढंग से वाक्यों में उच्चारण करने की विधि।

**६. सन्तान-** उक्त पाँचों अंगों के सहयोग से वाक्य विन्यास तथा उनका विस्तार आलेख के रूप में।

**१. प्रारम्भिक शिक्षा–** प्रथम गुरु माता/पिता प्रारम्भिक शिक्षा गृह से प्रारम्भ होती है। उपनिषदों के अनुसार प्रथम गुरु पिता होता है। कौटिल्य ने प्रथम गुरु माता, द्वितीय गुरु पिता तथा तृतीय गुरु शिक्षक को बतलाया है।

**२. सामान्य शिक्षा–** (गुरुकुल)- किसी गुरुकुल में जाकर शिक्षा ग्रहण करना। गुरुकुल प्राय: अरण्य में होते थे। इसलिए इसे अरण्य शिक्षा भी कहते थे।

**३. विशिष्ट (उच्च) शिक्षा–** ऋषियों के आश्रम में उच्च शिक्षा के केन्द्र तथा ऋषि स्वयं एक संस्थान होते थे।

**विद्वत सम्मेलन–** राजाओं द्वारा यज्ञों के माध्यम से विद्वत सम्मेलन आयोजित किये जाते थे। जिसमें देश के विभिन्न भागों से विद्वान उपस्थित होते थे तथा गूढ विषयों पर प्रश्नोत्तर एवं शास्त्रार्थ हुआ करते थे। राजाओं के अतिरिक्त ऋषियों द्वारा भी यज्ञों एवं विद्वत सभाओं के आयोजन समय समय पर आयोजित होते थे। इनके लिए कुछ स्थान भी निश्चित थे। यथा- नैमिषारण्य, काशी, पाञ्चाल, कैकय, विदेहराज कोशल आदि।

**संवाद–** संवाद भी शिक्षण का अंग है। संवाद द्वारा भी ज्ञान का आदान प्रदान होता है। यथा- पिता-पुत्र संवाद, गुरु-शिष्य संवाद, ज्ञानी-जिज्ञासु संवाद आदि।

# चार विद्यायें

## आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्चेति

१. **आन्वीक्षिकी-** वैदिक दर्शन, नास्तिक दर्शन

२. **त्रयी-** धर्म और अधर्म का निरूपण

ऋक्, साम, यजुः

वेदांग-

(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष)

३. **वार्ता-** अर्थ, अनर्थ (तर्क-मीमांसा)

४. **दण्डनीति-** नय (सुशासन), अपनय (कुशासन)

आन्वीक्षकी की महत्ता बतलाते हुये कहा गया है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता।। (चाणक्य)

**शिक्षार्थी के लक्षण-** काक चेष्टा, वकध्यान, श्वाननिद्रा अल्पाहार, प्रवास।

**विद्या के परिणाम-** १. शील, २. परहितासक्ति, ३. अनुत्सेक (विनय), ४. क्षमा, ५. धृति

**शिक्षार्थी के गुण (पात्रता)-** १. सुश्रूषा, २. श्रवण, ३. ग्रहण, ४. धारण, ५. विज्ञान, ६. ऊहापोह

## शिक्षण पद्धति

| | |
|---|---|
| १. दृष्टान्त पद्धति- | गूढ विषय का उदाहरण द्वारा सरलीकरण |
| २. कथा पद्धति- | कहानियों द्वारा |
| ३. सूत्र पद्धति- | विस्तार का संक्षिप्तीकरण |
| ४. एकाक्षर पद्धति- | एक अक्षर के संकेत द्वारा (यथा- ब्रह्मोपदेश = द का अर्थ सुरो ने दमन, असुरो ने दया, मनुष्यों ने दान रूप में ग्रहण किया।) |
| ५. रूपक पद्धति- | किसी वस्तु या जीव की उपमा द्वारा |
| ६. आत्मोक्ति पद्धति- | अपने अनुभवों द्वारा |
| ७. समन्वय पद्धति- | भिन्न-भिन्न मतों की समीक्षा द्वारा |
| ८. व्युत्पत्ति पद्धति- | निरुक्ति द्वारा या सोपपत्तिक |
| ९. प्रयोजन पद्धति- | आवश्यकतानुसार प्रतिपादन |
| १०. प्रतिगमन पद्धति- | प्रश्नोत्तर द्वारा |

# I ज्योतिष और विद्या (शिक्षा)

**शरीर की प्रकृति एवं प्रवृत्ति के नियामक ग्रह**

१. आत्मा-रवि　　२. चेत (मन)-चन्द्र

३. सत्त्व (बल)-भौम　　४. वाणी-बुध

५. ज्ञान+सुख- गुरु　　६. वासना+मद-शुक्र

७. दु:ख-शनि

**II बुद्धि और विद्या स्थान**

शरीर आदि १२ भावों में

सामान्यतया विद्या स्थान=पञ्चम

बुद्धि स्थान=चतुर्थ

किन्तु ग्रह स्थिति के अनुसार अन्यभाव भी विद्या-बुद्धि के कारक हो जाते है।

III विभिन्न भावों में ग्रहों की स्थिति तथा सम्बन्धों से,

ग्रहों के स्वभाव से

राशियों के गुणधर्मानुसार

कारक और भावेश के अनुसार

जातक की बुद्धि और विद्या का ज्ञान किया जाता है।

ग्रहों और राशियों के आधार पर विद्या (शिक्षा) क्षेत्र का चयन

जीविका क्षेत्र का चयन

## IV उदाहरणार्थ कुछ योग–

| | |
|---|---|
| बुद्धिमान योग- | १. सुतेशे तुङ्गे वा शुभान्तरे बुद्धिमान् |
| | २. गुरौ केन्द्रे कोणे बुद्धिमान् |
| विशिष्ट बुद्धिमान- | १. पुत्रेशे केन्द्रे धारणादि पटुः |
| प्रत्युत्पन्नमति - | ज्ञेन्द्वारावामुपरि वलीग्रहदृष्टे क्षिप्रोत्तर दानशील. |
| बुद्धिहीन- | लग्ने चन्द्रे मन्दार दृष्टे हीनधीः। |
| जडयोग- | केन्द्रगाःमन्देन्दु गुलिका जडः। |
| भिषक् योग- | अंशे ज्ञेन्दुशुक्रदृष्टे वा धने भिषक् । |
| वैयाकरण- | बलिनि गुरौ तद्धेशे रवि शुक्र दृष्टे |
| भाषाविद् - | शाब्दिकः । |
| गणितज्ञ- | धने भौमे शुभ दृष्टे गणितज्ञः। |

# ज्योतिष द्वारा गुणवत्ता में वृद्धि

१. ज्योतिष द्वारा बौद्धिक क्षमता का परीक्षण तदनुसार शिक्षा का चयन

२. शिक्षाचयन में अधिक विकल्प होने पर ज्योतिष द्वारा विश्लेषण (काउन्सलिंग)

३. शिक्षा में बाधक तत्त्वों का ज्ञान एवं उनका समाधान।

४. शिक्षा हेतु उपयुक्त काल का चयन

**९. ज्योतिष का नियामकत्व**

१. जातक के प्राकृतिक गुणों की पहचान।

२. प्राकृतिक गुणों के विपरीत निर्णय पर अंकुश।

३. जीवन की यथार्थता का परिचय।

४. काल्पनिक उड़ान पर नियन्त्रण।

५. उचित समय पर उचित निर्णय।

[उक्त सभी गुण दोषों का ज्ञान जातक के जन्म समय की ग्रहस्थिति के आधार पर सम्भव है। अत: ज्योतिष विद्या उचित मार्ग दर्शन कर शिक्षा क्षेत्र के चयन में सहयोग तथा अनावश्यक भटकाव से रोकती है।]



# 25-ELEMENTS OF ASTROLOGY IN THE VĀMANA PURĀNA

[वामनपुराणे निहितानां ज्योतिषतत्त्वानामाकलनेन स्फुटं प्रतीयते यज्ज्योतिषशास्त्रस्य शाखात्रयेष्वत्र जातकसंहिता-स्कन्धयोर्विषयाः प्राधान्येन समाविष्टाः। प्रस्तुतनिबन्धे एषां विषयाणां विभाजनं षट्सु वर्गेषु वर्तते। यथा— १. कालपुरुषस्य विवेचनम् -भगवतः शंकरस्याङ्गे राशीनां न्यासः तथा तस्य जातकग्रन्थस्य वर्णनेन सह तुलना च प्रदर्शिता वर्तते। २. राशिवर्णनम् — द्वादशराशीनां स्वरूपं, तेषां नक्षत्राणि, स्वामिनश्च निर्दिष्टाः सन्ति। अनन्तरं तेषां सञ्चरणनिवासस्थानानि विवेचितानि। जातकोक्तवर्णनेनान्तरमपि प्रदर्शितमस्ति। ३. मुहूर्त्तम् — दैनिककृत्ये उपयोगिवस्तूनां प्रयोगे निन्द्यानां प्रशस्तानां च वार-तिथि-नक्षत्राणां वर्णनं विद्यते। ४. शकुनम् — अन्धकेन शंकरस्य युद्धप्रसङ्गे वर्णितानां निमित्तानामाकलनं, तेषां संहितोक्तवर्णनेन साम्यञ्च प्रदर्शितम्। ५. सामुद्रिकम् -वामनपुराणे राज्ञः संवरणस्याङ्गलक्षणानां वर्णनं कृतम्। अत्र तेषां लक्षणानां वृहत्संहितायां निर्दिष्टवर्णनानुसारं फलं प्रदर्श्य वामनपुराणोक्तलक्षणस्य सार्थकता प्रदर्शिता। ६. नक्षत्रपुरुषवर्णनम् —वामनपुराणे विष्णोरङ्गेषु नक्षत्राणां न्यासः प्रदर्शितः, एष नक्षत्रविन्यासः ज्योतिषशास्त्रे प्राप्तवर्णनेन प्रायः साम्यं भजते। एते सर्वे विषयाः ज्योतिष-शास्त्रस्य शाखात्रयेषु संहिताजातकयोर्द्वयोः स्कन्धयोरन्तर्गता वर्तन्ते। एवं सर्वेषां विषयाणां साम्यमवलोक्य वामनपुराणस्था ज्योतिषविषयाः वराह-मिहिरेण प्रणीतग्रन्थादुद्धृता इति वक्तुं शक्यते।]

Indian scholars of traditional school hold the Purāṇuc literature as being an elaboration of the Vedas. Vāmana Purāṇa being the smallest of the so-called eighteen Mahā Purāṇas consists of almost all the branches of Indian science. As to Jyotiṣa Śāstra, including its branches regarding 1.

Siddhānta (Astronomy), 2. Jātaka and 3. Saṁhitā (Astrology), it occupies an important place therein. Now the question arises as to the extent of the astrological elements in this Purāṇa. To explain the view certain references are being discussed as follows :

1. Description of Kālapuruṣa.
2. Description of Rāśis or Zodiacal signs.
3. Muhurtas i.e. auspicious and forbidden times based on Tithis and Nakṣatras etc
4. Śakunas (Omens)
5. Śāmudrika i.e. science of reading signs and marks on human body.
6. Description of the Nakṣatra Puruṣa.

**1. Description of Kālapuruṣa :**

Describing the destruction of Dakṣa's sacrifice by Śiva the Vāmana Purāṇa mentions Kāla Puruṣa. Being afraid of Lord Śaṅkara engaged in destroying the sacrifice of Dakṣa, the sacrifice assumed the form of the divine deer and flew up in the sky along with its consort Dakṣiṇā. Aiming his Pāśupata missile at it, the one half of the body of enraged Śiva chased it while the other half remained in the sacrificial place. The half of Śaṅkara's body remaining in the sacrificial ground was known as Jaṭādhara, and the other half that flew up in the sky was named as kālarupī Hara. It pervaded the whole of the sky. Thus the entire Zodiacal belt was covered by the limbs of Kālarupī Śiva. Having referred to the form of Kālarupī Hara in this way the Vām, p. describes this form in terms of the different Rāśis or signs of the Zodiac representing its different parts. In this context the Purāṇa enumerates, as

follows, the Rāśis and their Nakṣatras along with the planets that govern them.

| **Nakṣatras** | **Rāśis** | **Lords of Rāśis** | **Limbs of Kālarupi-Hara** |
|---|---|---|---|
| 1. Aśvinī, Bharaṇī and first quarter of Kṛttika. - | Meṣa (Aries) | Maṅgala (Mars) | Head |
| 2. Three quarters of Kṛttikā, Rohiṇī and two quarters of Mṛgaśīrṣa. | Vṛṣa (Taurus) | Śukra (Vęnus) | Mouth |
| 3. Remaining two quarters of Mṛgaśīrṣa, the whole of Ārdrā and three quarters of Punarvasu. | Mithuna (Gemini) | Budha (Mercury) | Pair of arms |
| 4. Remaining one quarter of Punarvasu, Paṣya, aṇd Āśleṣā. | Karka (Cancer) | Candra (Moon) | Sides |
| 5. Maghā, Purvāphalgunī and first quarter of uttarā-phalguni. | Siṁha (Leo) | Surya (Sun) | Heart |
| 6. Remaining three quarters of Uttarāphalgunī, Hasta and two quarters of Citrā. | Kanyā (Virgo) | Budha (Mercury) | Abdomen |
| 7. Two quarters of Citrā, Svātī, and three quarters of Viśākhā. | Tulā (Libra) | Śukra (Venus) | Navel |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 8. Remaining one quarter of Viśākhā, Anurādhā and Jyeṣṭhā. | Vṛścika. (Scorpio) | Maṅgala (Mars) Organ | Generative |
| 9. Mula, Purvāṣādha and one quarter of Uttarāṣādhā. | Dhanu (Sagittarius) | Bṛhaspati (Jupiter) | thighs. |
| 10. Remaining three quarters of uttarāṣādhā, Śravaṇa, and two quarters of Dhaniṣṭhā. | Makara (Capricornus) | Śani (Saturn) | Knees |
| 11. Two quarters of Dhaniṣṭhā Śatabhiṣa and three quarters of Purvābhādrapadā. | Kumbha (Aquarius) | Sani (Saturn) | Shanks |
| 12. Remaining one quarter of Purvābhādrapadā, Uttarabhādrapadā and Revati. | Mīna (Pisces) | Bṛhaspati (Jupiter) | Feet. |

Thus Kālarupī Hara destroyed the sacrifice which had taken the form of a deer. The shattered pieces of the deer's body spread in the sky in the form of stars. For example the constellation Orion is known as Mṛgaśirsa, the head of the deer.

Even today we can observe a very bright star named mṛgavyādha or lubdhaka (Sirius) near Mṛgaśīrṣa (the head of the deer). There is a popular legend in this context describing that the hunter (Mṛgavyādha) shot an arrow at the deer. The three central stars in the constellation of Orion are supposed to be an arrow. But the Kālarupī Hara as described in the

Vāmana Purāṇa has no similarity with Kāla Puruṣa of this legend as the former includes entire zodiacal belt while the latter is represented by a single star Sirius.

In the books of Indian Astrology[1] the Zodiacal belt is defined as Kālapuruṣa to determine the good or bad aspects of the life of a person.[2] The different signs of Zodiac are also described as various limbs of Kālapuruṣa. But there is some difference between the description of the Vāmana Purāṇa and these Astrological treatises, in determining the signs in the body of Kala Puruṣa. To clarify the point a table is being given on page 116.

In the books of western astrology we come across the idea of the signs of Zodiac being placed[3] in the body of human being, but not the concept of a Kālapuruṣa comprising them all.

| **Signs.** | **Organs** | **Signs.** | **Organs.** |
|---|---|---|---|
| Aries | Head | Scorpion | The secret Parts of Anus. |
| Taurus | Throat and neck | Sagittarius | Thighs |
| Gemini | Arms | Capricornus | Knees |
| Cancer | Breasts | Aquarious | Ankle |
| Leo | Heart | Pisces | feet |
| Virgo | Intestine | | |
| Libra | Sexual organs | | |
| | (Cosmos Research Institute study No.2) | | |

1. B.P.H.4.5, B.J.1.4, L.J.1.5, sā.3.5-6.
2. E.g. कालनरस्यावयवान् पुरुषाणां चिन्तयेत् प्रसवकाले।
   सदसद् ग्रहसंयोगात् पृष्टान् सोपद्रवांश्चापि।। B.J.P.4.
3. The signs of Zodiac corresponding to different parts of the body.

## RĀŚIS REPRESENTING THE VARIOUS LIMBS OF THE KĀLA-PURUṢA

| | 1 | 2 | 3 | 4 | 5 | 6 | 7 | 8 | 9 | 10 | 11 | 12 |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | Meṣa | Vṛṣa | Mithuna | Karka | Siṁha | Kanyā | Tulā | Vṛscika | Dhanu | Makara | Kuṁbha | Mīna |
| J.P. | Head | mouth | Chest | Heart | Abdomen | Waist | Bladder | Sexual-organ | Pair of thighs | Knees | Shanks | Feet |
| L.J. | ,, | ,, | Arms | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, |
| B.J. | ,, | ,, | Chest | ,, | Lap | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, |
| B.P.H. | ,, | ,, | Arms | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, |
| Sā | ,, | ,, | ,, | ,, | Abdomen | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, |
| Vām. P. | ,, | ,, | ,, | Sides | Heart | Abdomen | Navel | ,, | ,, | ,, | ,, | ,, |

## 2. Description of Rāśis or Zodiacal signs :

We find in the Vāmana Purāṇa the description of the Zodiacal signs[1], which is mostly similar to that found in a astrological work. There are miner differences as in the case of Gemini, Virgo, capricornus, Aquarius and Pisces, see the following table :

| The Signs. | Forms according to the Vam.P. | Forms according to Indian astrological Books. |
|---|---|---|
| Mesa | Like a ram | The same as in Vām P. |
| Vṛṣa | Like a bull | do |
| Mithuna | A couple holding a vīnā in their hands | a couple, man holding a club and the woman a Vīnā. |
| Karka | Like a crab | The same as in Vām. P. |
| Siṁha | Like a lion | do |
| Kanyā | A virgin in a boat with a lamp and grains in hands. | The same as in Vām. P. |
| Tula | A man with a balance in hand. | The same as in Vām. P, |
| Vrscika | Like a scorpion | do |
| Dhanu | A man with a mounted bow having a horse's body for the lower portion of his body. | do |
| Makara | A Crocodile with a deer's face, and has shoulder, eyes and hair of a bull. | A Crocodile with a deer's face. |
| Kumbha | A man with empty pot on his shoulder. | A man with a pot. |
| Mina | A pair of fish. | A pair of fish with reversed faces and tails. |

The Kanyā (Virgo) is described in the Vāmana Purāṇa[2] as a virgin aboard a boat with grains and lamp in her hand. But in

1. Vām. P. 5.44-59.

2. ब्रीहीप्रदीपिककरा नावारूढा च कन्यका।। Vām. P. 5.53.

the books of Astrology fire has been shown in the hand of a virgin.[1] In the Sārāvalī there is only the mention of a lamp and not of grains.[2] Similarly in the Vāmana Purāṇa Capricorn has been described as having shoulders, eyes and hair of a bull,[3] in almost all the classical texts of Astrology, it is simply Mrgāsya, i.e. deer faced.[4]

In the Vāmana Purāṇa, along with the description of their external forms, the Signs are alloted to the places of their dwelling and movement. The distinction that we find here lies in the mention of the place of their dwelling while in the texts of Astrology only places of movement are mentioned, Moreover, in different texts of Astrology there is no similarity of the places of movements of the signs. The description of places of movement in the Vamana Purāṇa is identical with that in the Jātaka Pārijāta. But it differs here and there from what is found in other texts. The following table would clarify the point.

| Signs | J.P. | N.K. | B.P.H. | V.P. | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | | Places of dwelling | Places of their movements |
| Meṣa | Mines of metal, jewels and Lands | Mountains | Mountains | Goats, Sheep, Wealth | Grain, Mines of Jewels, Grassylands, and evergreen banks of lakes. |
| Vrṣa | Agricultural field, herd and Forest | Auspicious Lands | Village | Agriculturist | Cow pens. |
| Mithuna | Gambling house, Places of co-habitation and pleasure | Forest | Village | Places of music, dance and arts | Places of sports, co-habitation and pleasure. |
| Karkā | Banks of lakes and ponds | Waters | Forests | Waters | Agricultural fields, Bank of lakes and lonely tracts of land. |
| Siṁha | Mountains, caves, forests | Mountains | Forests | A village of hunters Pits and caves | Mountains, Forests, defiles and valley. |
| Kanyā | Newly grown grass, Places of co-habitation and arts | Auspicious lands | Mountains | Reeds | Place of co-habitation |
| Tulā | Town, Prosperous cities | Forests | Lands | Cities, Roads and houses | Streets and Markets. |
| Vrścika | Stones, Poison and holes | Waters | Lands | Poison, cowdung, warms and stones | Pits and Anthills. |
| Dhanu | Stables, Elephant-stall and chariot hall | Mountains | Earth | Elephant chariots | Cavaliers and missile experts. |
| Makara | Waters, Forest | Auspicious lands | Forests and Lands | Oceans | Rivers |
| Kuṁbha | Waters, Vessels and Houseland | Forests | Waters | Ale-houses | Gambling house and waters. |
| Mīna | Waters | Waters | Waters | Sacred spots, Temples and houses of Brāhmaṇas | Pilgrimage and Oceans. |

1. ......... ससस्यदहना प्लवगा च कन्या।। B. J. 1.5.
2. ......... प्रदीपसहिता कन्या च नौ संस्थिता।। Sā 3.4
3. मृगास्यो मकरो ब्रह्मन् वृषस्कन्धेक्षणाङ्गज:।। Vām. P. 5.57.
4. ............. मकरो मृगास्य:।। Vām. B.J.1.5

**5. Muhurtas :**

In the context of sadācāra, (good conduct) the Vāmana Purāṇa has prohibited some acts in certain Tithis[1], such as :-

I. Use of oils and unguents (Abhyaṅga) on Nandā Tithis (1st. 6th. and 11th)

II. Shaving, hair-cutting, nail-cutting etc. on Riktā Tithis (4th, 9th, and 14th)

III. Meat eating on Jayā tithīs (3rd, 8th and 13th).

IV. Co-habitation on Purṇā (5th. 10th, and 15th) Tithis. But these acts are enjoined on the Bhadrā (2nd, 7th and 12th Tithis. In the Muhurtacintāmaṇi[2], the tithis forbidden for similar acts are stated some-what differently, e.g. 6th for avoiding use of oil, 8th for meat, 14th for shaving and haircutting (Kṣaura)

Amā (New Moon) for co-habitation.

2nd, 10th and 13th for use of unguents, 7th, 9th and Amā (New Moon) for a bath with myrobalan (Āmalā)

Similarly certain Nakṣatras are forbidden in the Vāmana Purāṇa for certain acts[3], such as :

I. Cītrā, Hasta, Śravaṇa for the use of oil and unguents.

II. Viśākhā, Abhijita, for shaving and hair cutting.

III. Mula, Mṛgaśīrṣa, Purvā and uttarā Bhādra-padā for meat.

IV. Maghā, Kṛittikā, Uttarā Phalgunī, Uttarāṣāḍhā and Uttarā Bhādrapadā for co-habitation[4].

---

1. Vām. P. 14.48.
2. षष्ठ्यष्टमीभूतविधुक्षयेषु, नो सेवेत ना तैलपलेक्षुरं रतम्।
नाभ्यञ्जनं विश्वदशाद्विके तिथौ धात्रीफलैः स्नानमाद्रिगोष्वसत्।। M.C. 1.7.
3. Vām. p. 14-49.
4. Vām. P. 14.50.

In the Vāmana Purāṇa a unique auspicious muhurta is mentioned in the context of the matrimony of Śiva and Pārvatī. Saptarṣis affirmed to Himālaya that the auspicious movement on the third day having the auspious Tithis with the attributes of Jāmitra. When the moon would come into contact with Uttarā phalgunī constellation, is called Maitra.[5] Here it is to be noted that Jāmitra has no relation with Tithis but it is directly connected with Lagna. No where in astrological works the movement of moon's coming into contact with Uttarāphālgunī is termed as Maitra. kālidāsa, the well known Sanskrit poet, has also made mention of marriage Muhurta in Kumāra Saṁbhava, one of his remarkable works, which has similarity with the above mentioned Muhurta. According to Kālidāsa the marriage ceremony of Śiva and Pārvatī occurred in maitra Muhurta when the moon contacted with Uttarāphalgunī[6]. Here with maitra Muhurta the third muhurta of the day is meant. Likewise in Mahābhārata too, the same situation has been referred to. This has been mentioned there in the context of a journey of Arjuna when there is Maitra Muhurta having conjunction in the Revatī Naksatra.[7]

---

1. ततः सप्तर्षयः प्रोचुः शैलराज निशामय।
जामित्रगुणसंयुक्तां तिथि पुण्यां सुमङ्गलाम्।
उत्तराफाल्गुनीयोगं तृतीयेऽह्नि हिमांशुमान्।
गमिष्यति च तत्रोक्तो मुहूर्तो मैत्रसंज्ञकः।। Vām. P., 26. 62-63.
2. मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफाल्गुनीषु। K. S. 7.6.
3. ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते।
मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे।।
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्पः सत्ववतां वरः।। MBh. U.P. 83.6-7.

But the Nīlakaṇṭha has interpreted it as follows: Arjuna was born in Purvāphalguni Nakṣatra and the moment of the journey was governed by Revatī Nakṣatra. Thus the Revatī is the seventeenth star from Purvāphalgunī, the birth star of Arjuna. There remains eight when the number seventeen is divided by nine. So in the order of Janma the eighth Tārā is called Maitra. It means that for Arjuna there was maitra Tārā on that day which had be-come auspicious due to its relation with Revatī. In this way the messenger's journey had become auspicious on account of favourable combination of master's stars. But the Nīlakaṇṭha's interpretation is rather ambiguous and far-fetched. It says that Maitra Muhurta was co-existent with Revatī nakṣatra. Considering the instances referred to above it can safely be asserted that the description of Vāmana Purāṇa in this connection is defective. There, too, in Maitra Muhurta the combination of the Moon with Uttarā Phalgunī Nakṣatra would have been meant.

Similar statements exist here and there in astrological works. But in Vāmana Purāṇa some portion of a chapter is reserved for this subject where we get comprehensive idea of injunctions and prohibitions.

## 4. Śakunas (Omens)

Śakunas are exhaustibly dealt with in the Saṁhitā texts of astrology. In Purāṇas and *Kāvyas* also they are found mentioned. The sight of a certain animal or bird at the start of one's journey may be a good or bad omen. Here we discuss some of the Śakunas occurring in the Vāmana Purāṇa and also in some of the Astrological texts for a comparative study.

In the Vāmana Purāṇa while dealing with Sadācāra we are advised to see and touch certain auspicious things, at the start of our journey. Performance of Homa is held to be auspicious at the outset of a journey. Likewise, the sight and touching of

auspicious objects like Durvā grass, curd, ghee, pot full of water, a cow with a calf, a bull, gold, clay, cowdung, svastika cross, raw-rice, fried rice (Lājā), honey, a brāhmaṇa, a girl, white flowers, fire, sandal, the rays of the Sun, the Peepal tree[1].

In astrological works also the seeing and touchning of many things are held auspicious. In the two ślokas, similar to those of the Vāmana Purāṇa, the omens are mentioned thus :

"Horse and white objects are auspicious for a traveller going towards east. Dead body and flesh are auspicious on a journey towards south. A virgin and curd are auspicious for a westward journey. The presence of a Brāhmaṇa and gentleman brings forth good while going towards north. Seeing a Brāhmaṇa in the north, while going on a journey becomes a source of obtaining curd, rice and fried rice. Moreover, it ensures getting money and undisturbed return of the caravan afterwards[2]."

In the Vāmana Purāṇa while referring to the war between Śaṅkara and Andhaka the auspicious effects of seeing some birds and animals are described. Śaṅkara perceived a series of auspicious omens, foretelling his sure victory, at the start of his march against Andhaka. A she-jackal howling going before him on his left side and a group of flesh eater birds and animals desiring to taste flesh and blood joyfully accompanied him.[3]"

1. Vām. P. 14. 35-36.
2. श्रेष्ठे हयसिते प्राच्यां शवमांसे च दक्षिणे।
कन्यकादधिनी पश्चादुदग्गो-विप्रसाधवः।। Bṛ. S. 85.45.
दधितण्डुललाजानां लब्धिरुदक्दर्शनं च विप्रस्य।
अर्थावाप्तिरनन्तरमुपगच्छति सार्थवाहश्च।। Bṛ. S. 86.14.
3. शिवा स्थिता वामतरेथ भागे प्रयाति चाग्रे स्वनमुन्नदन्ती।
क्रव्यादसंघाश्च तथामिषैषिणः प्रयान्ति हृष्टास्तृषिताऽसृगर्थे।। Vām. P. 42.14.

In astrology it is mentioned that the presence of howling she-jackal on one's left side and going in front predicts the death of the ruler of that quarter[1].

The accompanying of joyful flesh eaters indicates the death of inhabitants belonging to the direction whereto the march is intended. Further it is said that at that time a silent parrot (Hārīta) was flying to the opposite direction[2].

The Jackal and Hārīta (a kind of pigeon) are powerful in the south.[3] But here the silent Hārīta going to the opposite direction indicates the defeat of his enemies, because it was a good omen for Śaṅkara.

Throbbing of limbs forms a part of omens. Divergence of consequences is marked by virtue of the throbbing of different limbs. Here the throbbing of right limbs of Śaṅkara is described at the movement when he was girding loins for struggle. According to astrology the throbbing of right limbs in one's body forecast auspicious result[4]. Accordingly Andhaka was killed and Śaṅkara became victorious.

**5. Sāmudrika :**

Once the daughter of the Sun, Tapatī said to Sage Vasiṣṭha "O Brāhman, I have thoroughly known the prince seen in the forest on account of the features of his body (Lakṣaṇas). Then she relates the features[6] tallying with those given in the Sāmudrikaśāstra.

---

1. पूर्वोदीच्यो शिवा शस्ता शान्ता सर्वत्र पूजिता।
   धूमिताभिमुखी हन्ति स्वरदीप्ता दिगीश्वरान्।। Br. s. 89.3.
2. शकुनिश्चापि हारीतो मौनी याति पराङ्मुखः।। Vām. B.40.15.
3. क्रोष्टुकोलूकहारीतकाककोकर्क्षपिङ्गला।
   कपोत रुदिताक्रन्दक्रूरशब्दाश्च याम्यतः।। Br. s. 85.21.
4. दक्षिणाङ्गं नखान्तं वै समकम्पत शूलिनः।। Vām. P.42.15.
5. अङ्गस्य दक्षिणे भागे प्रशस्तं स्फुरणं भवेत्।
   अप्रशस्तं तथा वामे पृष्ठस्य हृदयस्य च।। Jyotiṣa Sāra P. 173.
6. Vām. B.22.49-53.

Tapatī said; "There are marks of club, wheel, sword on the foot of that prince; His thighs and shanks are like the trunk of an elephant.' These features indicate the kinghood for a human being. Varāha says in this context :

"Human beings having a few hair on round thighs, resembling the trunk of an elephant and uniform knees on both sides attain kinghood and those having thighs like a dog or jackal remain poor[1]."

The prince Saṁvaraṇa had a lion-like waist, Varāha-mihira says:

"A human being having waist like that of a lion becomes a king, but one having waist like a monkey or a young elephant never gets wealth[2]".

Tapatī further tells that the prince Saṁvaraṇa has three folds of skin (Valī)[3].

Here the mention of three folds of skin (Trivalī) though not concerned with indication of kinghood, indicates the good quality of a learned man. Varāha says :

A man with one fold of skin (Valī) dies of weapon attack, with two folds of skin is fond of women, with three folds of skin is reputed scholar and with four fold of skin has many sons. But a man having no fold of skin at all becomes a king.[4]"

The prince's neck was like a conch. Varāha interprets it, "A man with a conch-shaped neck becomes a king and one having a long neck is a glutton"[5].

---

1. प्रतिवरलतनुरोमवृत्तजजा द्विरदकरप्रतिमैर्वरोरुभिश्च।
उपचितसमजानवश्च भूपा धनरहिता: श्वशृगालतुल्यजङ्घा:।। Br. s. 67.11.
2. सिंहकटिर्मनुजेन्द्र: कपिकरभकटिर्धनै: परित्यक्त:। Br. s. 67.18.
3. क्षामं च मध्यं त्रिवलीनिबद्धम्। Vām. P.22.49.
4. शस्त्रान्तं स्त्रीभोगिनमाचार्यं बहुसुतं यथासंख्यम्।
एकद्वित्रिचतुर्भिर्वलिभिर्विद्यान्नृपं त्ववलिम्।। Br. s. 67.24
5. कम्बुग्रीवो राजा प्रलम्बकण्ठ: प्रभक्षणो भवति। Br. s. 67.32

In the Vāmana Purāṇa it is said that the prince had long and muscular arms. According to the Sāmudrika Śāstra, "men who have left-hand-twist in arms or whose arms are very long or who have fully stretched arms are king."[1]

The prince had marks of lotus in his hands. According to Sāmudrika" A man who has mark of Śrīvatsa or lotus or Vajra or cā̆mara, performs yajnas (Sacrifices) daily and accumulates huge wealth."[2]

Saṁvaraṇa had an umbrella-like head. According to Varāha its significance is : with a round head one owns too many cows and with an umbrella-shaped head one becomes a king."[3]

Saṁvarana had blue and curly hair, ears full of flesh and a symmertical nose. Astrology tells us :

"A man who has single growth of smooth black and curly hair with unbroken ends and which are not very thick, enjoys happiness or becomes a king."[4]

Similarly about the ears it is remarked.

"Men with fleshless ears die of an evil deed, with flat ears enjoy material welfare, with small ears are miser, with raised ears (Śankuśravaṇa) are lords of armies, with hariy ears have long life, and with large ears are wealthy, with ears full of

---

1. वामावर्तभुजा ये तु ये तु दीर्घभुजा नराः।
सम्पूर्णबाहवो ये तु राजानस्ते प्रकीर्तिताः।। Br. S. P. 750
2. यज्ञयाजी भवेन्नित्यं बहुवित्तश्च मानवः।
श्रीवत्समथवा पद्मं वज्रं चामरमेव वा।। Br. S. P. 754
3. (i) परिमण्डलैर्गवाढ्याश्छत्राकारैः शिरोभिरवनीशाः। Br. S. 67-79.
(ii) छत्राकारशिरो राजा गवाढ्यः परिमण्डलैः।। Br. S. P. 765
4. एकैकभवैः स्निग्धैः कृष्णैराकुञ्चितैरभिन्नाग्रैः।
मृदुभिर्न चाति बहुभिः केशैः सुखभाङ् नरेन्द्रो वा।। Br. S. 67-81

veins are cruel, with hanging fleshy ears are happy."[1]

About nose it is said, "A man with pointed curved nose is wealthy, with right turned nose is a glutton and cruel and the man having plain small holed beautiful nostrils becomes lucky."[2]

The prince had fingers and toes which were long and had beautiful joints. Their significance is clear from the following astrological assertions :

"If fingers and toes are long a man has a long life, if they have twisted skin, he is fortunate, if they are thin he is wise and if they are flat he serves others."[3]

Thereafter Tapatī pointed out the special features of the body of Saṁvaraṇa. He had six raised limbs, three deep organs, three long parts, five organs bearing red colour, four limbs of dark blue and three bent. His two organs were white-coloured and four limbs were full of fragrance. In his body the mark of lotus was discernible on ten points.[4]

---

1. निर्मांसैः कर्णैः पापमृत्यवश्चर्पटैः सुबहुभोगाः।
कृपणाश्च ह्रस्वकर्णाः शङ्कुश्रवणाश्च भूपतयः।
रोमशकर्णा दीर्घायुशश्च धनभागिनोविपुलकर्णाः।
क्रूराः शिरावनद्धैः व्यालम्बैर्मांसलैः सुखिनः।। Br.S.67.53-59.

2. धनिनोग्रवक्रनासा दक्षिणविनताः प्रभक्षणाः क्रूराः।
ऋज्वी स्वल्पच्छिद्रा सुपुष्टनासा सभाग्यान्नाम्।। Br. s. 67.62

3. हस्ताङ्गुलयो दीर्घाश्चिरायुषामवलिताश्च सुभगानाम्।
मेधाविनां च सूक्ष्माश्चिपिटाः परकर्मनिरतानाम्।। Br. s. 67.36

4. समुन्नतः षड्भिरुदारवीर्यस्त्रिभिर्गभीरस्त्रिषु च प्रलम्बः।
रक्तस्तथा पञ्चसु राजपुत्रः कृष्णश्चतुर्भिस्त्रिभिरानतोऽपि।।
द्वाभ्याञ्च शुक्लः सुरभिश्चतुर्भिः दृश्यन्ति पद्मानि दशैव चास्य।
वृतः स भर्त्ता भगवन् हि पूर्वं तं राजपुत्रं भुवि संविचिन्त्य।। Väm. p. 22.52-53.

Bṛhat-Saṁhitā has described the nature of features of a great man. It says, "If six limbs-chest, abodmen, nails, nose, mouth and thyroid are raised, navel, sound and nature sublime, arms and testicles hanging, eye-ends, feet, hands, throat, lower lip, tongue and nails are red, a man is great."[1]

In this context Bhattotpala, a commentator of Bṛhat-Saṁhitā quotes Garga.

"If hands, feet, mouth, eyes, chest and nails are red the man is a lord of men".[2] If cornea, eye brows, beards, and hair are black, eyes except cornea and teeth white, tongue, lips, palate, face, mouth, eyes, chest, nails, hands and feet are lotus coloured then the man becomes great.[3]

**6. Description of the Nakṣatra Puruṣa :**

An ugly and well versed Brāhmaṇa from Śākala country, rejected by his beautiful wife, worshipped the Nakṣatra puruṣa[4], on the bank of Irāvatī. Here we find the description of Nakṣatrapuruṣa in the following way.

Lord Viṣṇu has Mula Nakṣatra for his feet, Rohiṇī his two

---

1. वक्षोऽथ कक्षा नखनासिकास्यं कृकाटिका चेति षडुन्नतानि।। Br. S. 67-68
   नाभिः स्वरः सत्त्वमिति प्रशस्तं गंभीरमेतत् त्रितयं नराणाम्।। Br. S. 67-85
   करिकरसदृशौ वृत्तावाजान्ववलम्बिनौ समौ पीनौ।
   बाहू पृथ्वीशानामधनानां रोमशौ ह्रस्वौ।। Br. S. 67.25.
   जलमृत्युरेकवृषणो विषमैः स्त्रीचञ्चलः समैः क्षितिपः।
   ह्रस्वायुश्चोद्बद्धैः प्रलम्बवृषणस्य शतमायुः।। Br. S. 67.9.
   नेत्रान्तपादकरताल्वधरोष्ठजिह्वा रक्तानखाश्च खलु सप्त सुखावहानि।। Br. S. 67.87
2. पाणी पादौ तथा चास्यमुभे नेत्रे स्तनौ नखाः।
   पञ्चरक्तानि यस्याहुर्मनुजेन्द्रं तमादिशेत्।। Br. S. P. 768
3. अक्षितारे भ्रुवौ श्मश्रु केशाश्चैवासिता शुभाः।। (गर्गः) Br. S. P. 767
   नेत्रे ताराविरहिते दशनाश्चलिताः शुभाः।। (गर्गः) Br. S. P. 768
   जिह्वौष्ठतालु चास्यं च मुखं नेत्रे स्तनौ नखाः।
   हस्तौ पादौ च शस्यन्ते पद्माभा दशदेहिनाम्।। (गर्गः) Br. S. P. 767
4. Vām. p. 53.77-83.

shanks, Aśvinī Nakṣatra his two knees, Purvāṣādhā and Uttarāṣādhā, his two thighs, Purvāphalgunī and Uttarāphalgunī his two private parts, Kṛttikā his waist, Purvā and Uttarābhādrapadā his two sides, Revatī his stomach (Kukṣi), Anurādhā his heart, Dhaniṣṭhā his back, Viśākhā his two arms, Hasta his two hands, Punarvasu his fingers, Āśleṣā his nails, Jyeṣṭhā his neck, Śatabhiṣa his two ears, Puṣya his mouth, Svātī his teeth, Śatabhiṣa is his two chins (Hanu) Maghā his nose, Mṛgaśīrṣa his eyes, Citrā his forehead, Bharaṇī his head and Ārdrā is his hair.[1]

In the Bṛhatsaṁhitā also there is a similar description of Nakṣatra Puruṣa.[2] In the Vāmana Purāṇa. Śatabhiṣa is accounted as the two chins of Viṣṇu whereas in Bṛhatsaṁhitā it has been conceived as his smile.[3]

As in the case of Kālapuruṣa the signs on the limbs of the Nakṣatra Puruṣa are mentioned in some works of astrology as having astroligical Significance.

On comparing the astrological elements found in Vām. P. with those occurring in astrological works it becomes manifest that the related portions have been directly taken from the works of Varāha Mihira. For example, the portions related to Jātaka i.e. description of kālapuruṣa and Rāśis etc. are found in Bṛhajjātaka, Bṛhatpārāśara Horā etc. and those related to Saṁhitā (Throbbing of limbs, and omens etc.) exist like-wise in Bṛhat Saṁhitā.

Somewhere minor differences exist, no doubt. For example in Vāmana Purāṇa the description of the movement of Rāśis and their location differs from the description of astrological works wherein any variatio in this regard scarcely exists.



1. Vām. p. 54.I-9.
2. Br. s. 104.I-5.
3. 'हसितं शतभिषगथ' Br. S. 104-4

# THE SCIENCE OF RAIN FALL IN ASTROLOGY

India is an agricultural country from time immemorial and agriculture has been directly related to the rains. No amount of artificial means of irrigation can replace the role of a natural rains in meeting the needs of Indian agriculture. The thirst of soil reeling under the tropical Summer can be quenched only by the rain. This is, precisely the reason, why Indian peasants have been especially careful about foreseeing the rain prospects. The peasants are able to predict the rain prospects, by observing the changes occuring in the atmosphere, besides, the actions and the sounds of the birds and the beasts also help predicting the rain prospectes. But the scholars having access into the Sāstra predict the rains as well as atmospheric changes and celestial disturbances by observing the sky and by taking resousce to Jyotiṣa Sāstra. Thus the sciences of Astronomy, Astrology and Samhitā are an invaluable treasure of Indian Shastric tradition. A deep study of the vast literature of Jyotiṣa and the constant Scientific tests based on them may solve such innumerable questions which are directly related to agriculture of India.

It is a well known fact that celestial planets in motion constantly influence each other, Jyotiṣa Sastra analyses such planetary effects scientificaly.

Jyotiṣa Sastra, is divided into three main branches :-

1. Siddhānta 2. Horā 3. Saṁhitā

**1. *Siddhānta (Astronomy) :-*** Mathematics is the salient feature of Astronomy. The main content of this branch & Science forms the micro and macro measurament of time as well as the temporal dynamics. The rising and setting of

planets, solar and lunar eclipses, Panchanga (Thithi vāra, Nakṣatra, yoga, Karaṇa etc) are the focal theme of this study. The instruments of celestial observation have been also described here.

2. ***Hora :*** The effect of planets have been dealt within the branch of Astrology. The Impact of stars and planets with their positions and time on life events of a man also been demonstrated here. Having the knowledge of planetary position at the time of birth, the important events (bad or good) of life are predicted well in advance studying the Astrological aspects.

3. ***Saṁhita :*** The scope of Samhita skandha is very broad. It includes planetary motion. Sky signature fire ball science of planets, the defintion of limb of men and women, Viruti (sound of cry) of animals and as wellas birds. Science of good omen and bad omen and science of rainfall have also been widely described. The study nature is based on Saṁhitā Skandha. Various aspects of rains have been widely dealt within the Samhitā literature. Therefore, ample material on the subject is available there. The rainfall for every month used to be forecast in the begining of the year in ancient times. So, much so that total rainfall of the Year used to be quantified. The quantification of rain fall used to be measured in the wellknown measurement 'Ādhaka'. These type of forecasts greatly benefitted agriculture. The pre knowledge of rainfall used to help famers to get ready to face drought or flood well in advance. As a result harvest could be saved if not fully, in a substantial manner. In this way, agriculture is intimately linked with the science of Agriculture and the science of rainfall. Maharshi Parāsarā has written in his book 'krisi Pārā sara' highlighting the relation between rainfall and Agriculture as follows : That is entire agriculture is dependent on rainfall. In fact rainfall is the basis of life. Therefore, efforts should be made to unravel the must era of rainfall first.

cold, rain and sun is known as Miśra.

It is decided that the direction and speed of wind will be observed and recorded on the above three places round the clock everyday in the month of Pauṣa. The conditions conductive to rainfall will be observed from time to time. Depending on these requirements three places will be selected for observations.

**2. TIME :** Some of the months and dates have been indicated for having careful observations of the sky, wind and planetary position yielding crucial infromations. The months and the dates are given below.

Jyestha Sukla Ashtami to Ekādaśi, 4 days in Jyeṣtha. Aṣādha Śukla Pratipadā = 1 day and from the very day to Amāvāsyā (Paryanta) = 30 days.

**3. WIND :** In the analysis and study of wind. The directions and speed of wind with its humidity are observed. The wind coming from east and north on the noted days bring capacity to rain the clouds, while coming from south and west brings dryness.

With the combined knowledge of time and wind one knows the clouds formed with water (Meghagarbha) etc. At the time of cloud formantion cold and pleasant wind are conductive to cloud formation with water. Varāhamihira has written in Bṛhatsaṁhita (See Vṛhat Saṁhitā Chapt-22).

On the contarary, if the wind is dry and penetrating the possibility of dry cloud is enhanced.

**4. PLANETARY MOTION :** Though every planet and star influences the rainfall. Yet the sun and moon have greater significance. Ṣun and moon have been considered to be main sources of information. Therefore, there are fourteen constellation of solar control and 14 constellation of lunar

After studying these treatises it seems that ancient Indian sages have studied the weathre as in general and branch of science. Till now no effort has been put in correct forecasting of rainfall. It still poses great challenge even after such a scientific advancement. It may be quite likely that values and scientific trends of ancient times are not so upto-date from today's point of view. However, it is not reasonable to overlook this ancient science any more. Therefore a systematic and planned study of this branch of science has to be carried out based on ancient treatises in this fast changing world. The ancient knowledge of rain fall has to be consolidated and updated. These principles have to be applied and tested from time to time. We should also test the knowledge of rainfall on the basis of methods developed by ancient Ācāryas in an authoritative way keeping this in view.

Outline of Experiment and Analysis :

There will be mainly six criteria for test in this field —

| | | |
|---|---|---|
| 1. Place | 2. Time | 3. Wind |
| 4. Planetary motion | 5. Sky signature and | 6. Cloud. |

1. ***Place :*** The lands have been divided in three categories based on its characteristics described in Ancient texts.

### 1.1. ANŪPA :

The land consisting of river, ponds, hills, variety of forests and agricultural land and having pleasant wind and warmness in the atmosphere is known as Anūpa.

### 1.2. JĀNGALA :

The sunny and airy land characterized by some water and grass, as well as with good crops is known as Jāṅgala.

### 1.3. MIŚRA :

The land having mixed characteristics with moderate

control, Due to planetary motion, when sun and moon comes in line with a planet. Then there is no rain, but whenever they are inter-changed, it rains. When the sun and moon comes in the Solar constellation, it leads to drought. Moreover, when they come in the lunar constellation, it yields penetrating wind. In addition other planets also have their impact and are popularly described in the following couplets :

5. **SKY SIGNATURE :** There are transient objects in the sky quite often named as meteors, hallow (Pariveṣa), comets, fireball in the sky, cosmic dust etc. The appearances of these transient events are known to be associated with destructive happening on the earth. The risings and settings of star Agastya have been known to play an important role in the rainfall.

6. **CLOUD :** There are four kinds of clouds mentioned in the Indian Astrology :

1. Saṁvartaka, 2. Āvartaka,
3. Pūṣkara, 4. Droṇa.

Among these saṁvartaka is known to be very wild and intensely densified. Thick and black clouds surrounding from all the sides with thunders and lightening with torrential rain are the main characteristics of the Samvartaka. This type of clouds rain destructively. An Āvartaka clouds is dry and does not have capacity to rain. Puṣkar clouds comperatively less tha general.

The analysis of clouds are specially done during its formation and appearances. Clouds usually rain after 195 days of their formation. If it doesn't rain on the scheduled time and if winds are favourable then the possibility of hailstorms afterwards are very likely.

Based on these analysis and the winds in the month of Pauṣa, the daily forecasting is determined namely the thirty days of pauṣa are indicators of 360 days (12 months)

2½ days = 60 hours = 1 months

2 hours = 1 day (24 hours)

= First hour of the day and second hour of the night are indictors.

In this way the rainfall of one month will be estimated in every 2½ days. For example starting from pratipada of pauṣa month to half part of Tṛtiyā will be

First 2½ days = 1 month

Second 2½ days = 5 days = 2 months

Third 2½ days = 7½ days = 3 months

Forth 2½ days = 10 days = 4 months

Fifth 2½ days = 12 ½ days= 5 months

Sixth 2½ days = 15 days = 6 months

Seventh 2½ days = 17½ days = 7 months

Eighth 2½ days =20½ days = 8 months

Ninth 2½ days = 22½ days = 9 months

Tenth 2½ days = 25 days = 10 months

Eleventh 2½ days = 27½ days = 11 months

Twelth 2½ days = 30 days = 12 months

The result of wind, planetary motion etc. for the first two and half days will indicate the rain fall of the first month. It is proposed to carry out research and analysis on these points. The literature for research is available in Saṁhita Granthas and manuscripts Mayuracitraka etc. on rainfall sciences. If it is done in systematic way it is expected that some substantial findings could be obtained which may contribute to the new understanding towards rainfall sciences. In this System, the ancient methods can be supplimented by modern equipments, wherever possible, so that one can precisely determine the direction and speed of wind etc.



# RELEVANCE OF JYOTISHA SHASTRA IN MODERN LIFE

It is well known that Jyotisha Shastra is one of the six Vedangas and it has a prominent place among them. It is called Eyes of the Vedas :

वेदस्य निर्मलं चक्षु : ज्योतिः शास्त्रमकल्मषम् ।

Therefore, without considering Jyotisha Shastra, the entire discussion of Vedas is incomplete. Acharya Lagagha said in his book Vedanga Jyotisha :

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।।

The sacrifice forms the main content of Vedas and the performance of sacrifices has its certain auspicious time. The description of such an auspicious time and determination of the same is the study area of Jyotisha Shastra. Therefore, Jyotisha Shastra is a main organ of the Vedas.

According to Indian tradition, Jyotisha Shastra is not only the organ of Vedas but part of the entire lifestyle, as life is also taught in Vedas. We take the help of Jyotisha Shastra for deciding the time of all the ceremonial occasions (16 Sanskaras, etc.), in human life, from conception to death. It is also known as Kal Vidhan Shastra as it defines the smallest unit of time e.g. the TRUTI (=0.000000308) to the largest unit, the time for desolation i.e. (Pralaya Kala).

Also, I find in the modern content, that Jyotisha Shastra covers a wide area of knowledge. In fact, Vedas offer a deep insight into the secrets of the Universe. From creation of the Universe to the effects of planets and constellation

(Nakshatras) are described here. Vedic cosmology explains the origin of the cosmos and the world in a way. This also appears as scientific understanding of nature and the function of not merely the celestial bodies of our own solar system, but the secrets of the entire universe in Vedic as well as Sidhanta Jyotisha. This is the reason why Jyotisha occupies such an important place among the series of six Vedangas.

Mainly Jyotisha Shastra is divided in to three parts :

**1. Siddhanta (The Astronomy) :** In this part, movements of planets measurement of times, Mathematics, Algebra and instruments of observation are described. In this context, Acharya Bhaskar, who was the first interpreter of the gravitation theory of the Earth, has given definition of Siddhanta in his renowned work "Siddhanta Shiromani".

त्र्युट्यादि प्रलयान्तकालकलना मानः प्रभेदः क्रमाच्।

चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।

भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते।

सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धो बुधैः।।

**2. Samhita (The Universal Astrology) :** In this part there is definition of diluvinal science, celestial spheres, disturbances in the celestial spheres and their effects, observation of winds, science of rainfall, behaviors of birds and animals, and treatment of plants etc.

**3. Hora ( The Astrology) :** On the basis of the time of conception or birth, all types of auspicious and inauspicious events of life from birth to death are discussed. Thus, the Jyotisha Shastra has a wide scope for discussion and investigation.

Now the question arises, what is the use of Jyotisha (The Astrology) in this time when powerful modern science is able

to send a human into outer space? In fact, if we observe minutely, we can easily see how fast science is growing and the importance of Jyotisha Shastra is increasing in the same measure. There is no doubt Jyotisha is a complete science. Everyday, one can feel its impact on world life as well as life of an individual. From the immemorial times, Jyotish was the only source used to know about the space, Earth, planets, constellations, changes and disturbances in the Universe. Moreover, Jyotisha was used in forecasting the rainfalls, collecting meteorological and agricultural information. Sage (Maharshi) Parashara described in detail the system of agriculture in his prominent book "Krishi Parashara". The whole system is divided in to seven parts : 1. Land, 2. Seeds, 3. Instruments, 4. Fertilizer, 5. Watering, 6. Protection, 7. Rains.

**1. Land :** The choosing of the appropriate land & soil for agriculture and its preparation for the cultivation of the seeds are discussed.

**2. Seeds :** The selection and preservation of seeds for healthy growth is described.

**3. Instruments :** The instruments for ploughing the land and other necessary things are explained.

**4. Fertilizer :** The preparation of fertilizer by animal manure is discussed here.

**5. Watering :** The system and proper time of watering are also mentioned.

**6. Protection :** The protection of crops from insects, birds and animals are discussed. There are also some Mantras mentioned which are useful for protection of the crops.

**7. Rain :** The position of rain throughout the whole year is described here. Rain is most important for the agriculture.

Parashara said :

वृष्टिमूला: कृषि: सर्वा वृष्टिमूलञ्च जीवनम्।

तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टिज्ञानं समाचरेत्।।

" Rain is the most important element for the survival of crops. Rain is very essential for life. Therefore, we should try carefully to know the time of rainfall."

In this content, Acharya Parashara explained the system to work out the time of rainfall and storms by the observation of winds during the month of Pausha (approximately November-December) every year. The speed and direction of the wind in the month of Pausha is able to decide the rainfall for the year.

In continuation, I would like to mention BRIHAT SAMHITA, the greatest work of Varaha Mihira. In this book, Varaha Mihira has described the auspicious times for the conception of clouds and time of rainfall. Some Acharyas have mentioned the kinds of clouds in their works. There are four kinds of clouds :

1. Avartaka is dry clouds.

2. Samvartak contains heavy rain.

3. Pushkar has little power of rain.

4. Drona is good clouds for agriculture. There is proper rain. Acharya said :

आवर्त्तो निर्जलो मेघ: संवर्त्तश्च बहूदक:।

पुष्करो दुष्करजलो द्रोण: सस्यप्रपूरक:।।

"This is the most useful part of Jyotisha (Astrology) for the world. It can indicate the actual time of growing Monsoon in the atmosphere and is capable to predict any event. It can provide prior information of rainfall, drought, earthquake, etc."

Another aspect of Jyotisha Shastra, which deals with the human body, is important for everyone and in all matters. In the case of an individual, we can get prior information of any disease in the body which is likely to come up in future. Thus, Jyotisha Shastra may be seen as a useful science for guiding the prevention of health disorder and thereby offering the possibilities of a healthy life. In modern times, we are paying attention to the choices of the right career for our children. We take resource I Q. tests, etc. Jyotisha may be used in this sphere too. Jyotisha may suggest the area and the line of study in which the child is likely to actualize his/her possibilities. It can help to choose life partner as well. The young generation could find themselves free from all the frustrations with the help of Jyotisha. Thus, it is also applicable in the field of guidance and counseling.

Confining Astrology merely as a subject of prediction, narrows its field and limits its importance. We have to use the knowledge of Jyotisha Shastra for the studies of environment protection, agriculture, the health, the guiding, and the counseling of life to a human being. In this way, Jyotisha Shastra will prove to be extremely helpful in the various fields of modern science. With this paper, I wish to call the scientists of the world to think over the various concepts and theories mentioned in Jyotisha Shastra relevant to their fields and also to examine them. I am fully confident it will be very helpful for the scientists in their respective fields.

To conclude, I would like to say that Jyotisha is the very fundamental discipline of the entire Vedic thoughts. This has not only been a Vedanga or the auxiliary science for performance of Vedic sacrifices, but it also carries influence

in the field of Ayurveda or the Medical science. In fact, the entire Indian Literature is filled with references to Jyotisha Shastra. Not only Hindu religiosity and religious acts are regulated by the Jyotisha Shastra, the entire Hindu life is governed by its discipline.

Unfortunately, it has been neglected in modern studies and has not been given its proper place in world academic conferences and world gatherings. I would, therefore, invite the attention of modern scholarship to the unique importance of this discipline in indological studies.

In fact, Jyotisha Shastra is not only useful and relevant in India, but is equally for the entire humanity. It has its universal importance, therefore it deserves its proper place in modern scientific studies. So that the entire world may be benefited by this ancient lore of India:



# ECLIPSE FROM THE VEDIC VIEWPOINT

There are many astronomical evidences that are firmly established in the Vedas. There are many things discussed in the Vedas, from the creation of the universe to its desolation. The positions of the sun and the moon are mentioned here in many different ways. Eclipses are described through the story of demon Rahu in Vedic literature. In Indian Astronomy Rahu is defined as a certain point in the universe where the moon's orbit crosses the orbit of the sun. Rahu is the name of this point and the point opposite is called Ketu ($180^0$ distance from Rahu). Following this story, Acharya Bhaskar says that Rahu pervades the moon through the shadow of earth[1]. In Vedic age Tithis, lunar days, were very important due to Yjna, sacrifices. It was clearly mentioned that Tithis are fully related with the sun and the moon and with the phases of the moon also. Tithis are referred to as the described in the different part of the Vedas. From Pratipada to Purnima / Amavasya fifteen lunar days are fifteen Tithis. Among the Tithis Purnima and Amavasya were very popular. Those lunar days (Amavasya and Purnima) are the day of eclipses.

Brahman Grantha gives the following description:

"Yam paryastmiyadabhudayaditi sa tithih"

(यां पर्यस्तमियादभ्युदयादिति सा तिथि:)[२]

In Indian astronomy (SIDDHANT JYOTISHA) Tithies are defined as:

अर्कोनचान्द्रलिप्तास्तु तिथयो भोगभाजिता:।[३]

---

१. राहु: कुभामण्डलग: शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम् । (सिद्धान्तशिरोमणि गो.अ.ग्र.वा. १०)

२. बह्वृच ब्राह्मण, उद्धृत भारतीय ज्योतिष पृ. ६०

३. सूर्यसिद्धान्त २.६६

In a similar way, Grahalaghava says :

भक्ता व्यर्कर्लवा विधोकुभिर्याता तिथिः स्यात्फलम् ।।[१]

The longitude of the Sun substracted from the longitude of the Moon and divided by twelve produces Tithi. This is how to calculate Tithi :

True longitude of the Moon-T.L. of the Sun ÷ 12 = past tithi.

The roles of Tithis are very important in the calculation of the Eclipses. The possibility of Eclipses can only occur on the fifteenth lunar day. A reference is found in Mahabharata that once an Eclipse was occurred without fifteenth lunar day and that was considered a bad omen.

राहुः ग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते[२]

Another reference is indicating the position of total Lunar Eclipse timely, but there was a lapse of two lunar days (Tithis), therefore that was also considered as a bad omen.

अलक्ष्यप्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्चपद्मवर्णे नभस्तले।[३]
चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेहममावास्यां त्रयोदशीम्।
चन्द्रसूर्याविुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम्।।[४]

१, ग्रहलाघव २.८

२. महाभारत, सभापर्व अ. ७९

३. महाभारत, भीष्मपर्व अ. २

४. महाभारत, भीष्मपर्व अ. ३

These references indicate that astronomers of Vedic age were very conscious about the eclipse and other activities in the universe. Due to this consciousness of the astronomers, they were able to create a formula of the Eclipse cycles. This formula is justified mathematically.

According to Indian Astronomy, the Sun is moving in it's orbit, and Rahu (The crossing point of the Moon's and the Sun's orbit) is also moving in opposite direction of the sun. In this way when the Sun and Rahu meets on a point, from that time there is another meeting that is expected after 346.619 days. Duration of a lunar month is 29.5306 days. In this way within 223 lunar months the conjunction of the Sun and Rahu will repeat 19 times. This means that the sun and the moon will meet 19 times but doesn't necessarily result in an eclipse. 223 months equal to 18 years 11 days. This is the cycle of eclipse.

| | | |
|---|---|---|
| 223 lunar months | = | $223 \times 29.5306 = 6585.32$ days |
| 19 conjunction of the Sun & Rahu | = | $19 \times 346.619 = 6585.78$ days |
| 241 Revolution of the Moon | = | $241 \times 27.3217 = 6585.3$ days |
| 18 solar years + 11 days | = | $18 \times 365.2563 + 11 = 6585.6$ days |

The above calculations show that the Vedic calculations for the eclipse cycle are mathematically sound. According to Rigveda scholars of Atri - Gotra were expert in the calculations of eclipses. They were mentioned in Rigveda :

यत्वा सूर्य स्वार्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अक्षेत्र विद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ।
स्वर्भानोरधो यदिन्द्रमाया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्
गूळहं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्माणा विन्ददत्रिः ।
× × × × ×
यं वै सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन ।।[१]

१. ऋग्वेद ५.४०. ५-९

When Rahu covered the Sun's discs with his darkness, the whole universe was surprised. This description shows the situation of total eclipse. When there is total darkness during the day, this is very surprising. It means that from the Vedic age eclipses were well known and their calculation were easily possible.

In a later age (Siddhanta Kala), a systematic mathemetical system was developed, eclipses were described clearly with complete reason. Suryasiddhant says :

छादको भास्करस्येन्दुरधस्थो घनवद्भवेत्।

भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ।।[१]

In a Solar eclipse the Moon is the eclipser (Chhadaka) of the Sun just like cloud, moving eastward the moon enters in the shadow of earth. In a lunar eclipse, the shadow is the eclipser and the moon is eclipsing.

Grahlaghava also described the eclipses :

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभा छादकच्छाद्यमानैक्यखण्डं कुरु।[२]

In Solar eclipse the moon is eclipser (Chhadaka) and the Sun is eclipsing (Chhadya). In the lunar eclipse the shadow of earth is eclipser (Chhadaka) and the moon is eclipsing (Chhadya).

The possibility of eclipse is an following: The earth's shadow is $180^0$ from the Sun, when the longitude of the moon's node is the same with that of the shadow, or with that of the Sun, or when it is a few degrees greater or less, there will be an eclipse. The longitudes of the sun and the moon, at the moment of the end of the lunar day of new moon (Amavasya), are equal in longitude and at the end of the day

१. सूर्यसिद्धान्त ४.९

२. ग्रहलाघव ५.४

of full moon (Purnima) they are 180$^0$ separate. This is the situation of eclipse. This is mentioned in Surya Siddhanta:

भानोर्भार्धे महीच्छाया तत्तुल्येर्कसमेऽपि वा।
शशाङ्कपाते ग्रहणं कियद्भागाधिकोनके।।
तुल्यौ राश्यादिभि: स्यातामभावास्यान्तकालिकौ।
सूर्येन्दू पौर्णमास्यन्ते भार्धे भागादिभि: समौ।[१]

Even though this concept was clear during the Vedic age, there was more elaboration that occurred during Siddhant age. Now Indian Astronomy has fully developed formula of this calculation. The procedure of calculation of eclipse is as under :

At first we cheak the possibility of eclipse, then calculate the Tithi (either the Amavasya or Purnima). After that we calculate the actual position of the sun, moon and Rahu the node. Even though the normal diameter of the disc of these planets are already known, it is necessary to calculate the visible shape and diameter because this depends on the sun's motions. It is necessary to know the present diameter in the visible area. According to Surya siddhanata actual diameter of the sun disc is 6500 Yojanas, and the moon disc is 480 Yojanas.[२]

Vimba-vyasa (the diameter of the disc) means, the diameter of the visible part of the disc only, not the actual disc. This is smaller than half the part of the planets. The above mentioned diameter of the sun can be multiplied by the number of revolutions of the sun and divided by revolutions of the moon or if it can be multiplied by the moon's orbit and divided by the sun's orbit. The result will be the visible

---

१. सूर्यसिद्धान्त ४.६-७

२. सार्धानि षट् सहस्राणि योजनानि विवस्वत:
विष्कम्भो मण्डलस्येन्दो : सहाशीत्या चतु:शतम् ।। सूर्यसिद्धान्त ४.१

diameter of the sun in the orbit of the moon. If the diameters divided by fifteen, this gives the result of measurement in minutes. Its reasoning is that : If 360 degrees cover the whole Kaksha Yojana then what is in one Yojana?

$$\frac{\text{Chandra Kaksha Yojana} \times 1}{360} = \frac{324000 \times 1}{21600} = 15 \text{ Kala}$$

(360 degree $\times$ 60 = 21600 Kala)

In this way the Yojana is converted in the measurement of Kala. The sun's actual diameter is Yojana and this is always stable. The visible diameter in Kala is not stable. It can be longer or shorter according to true motion of the sun.

When the possibility of eclipse is decided and the diameters of the sun and the moon is calculated at the time of ending of a certain lunar day i.e. the Purnima or Amawasya (Parvant kala), then the next step is the calculation of the amount of obscuration/eclipse.

According to Surya siddhant, if you take the latitude of the moon at the time of Parvant Kal (end of the lunar day) and subtract half the diameter of eclipser + eclipsed bodies. the remainder is the amount of the obscured. If the remainder is bigger than the eclipsed body then the eclipse will be total, if smaller than the eclipse will be partial. If the half diameter of the eclipser an eclipsed body is shorter than the latitude of the moon, then the eclipse will not be possible.

Surya Siddhant says :

तात्कालिकेन्दुविक्षेपं छाद्यच्छादकमानयोः।
येगार्धात् प्रोज्झ्य यच्छेषं तमच्छन्नं तदुच्यते।।
ग्राह्यमानाधिके तस्मिन् सकलं न्यूनमन्यथा।
योगार्धादधिके न स्याद्विक्षेपे ग्राससम्भवः।।[१]

१. सौरोर्कोपि विधूच्चमङ्कलिकोनाब्जो गुरुस्त्वार्यजो .......... यान्ति दृक्तुल्यताम् ।। ग्र.ला. १.१६

Sthiti (Duration of eclipse) - First calculate half the amount of the sun and difference respectively of the eclipsed and eclipsing bodies and place it to the side. Then, from the square of each of the resulting amount subtract the square of the latitude of the moon, and take the square roots of two remainders.

Each square root multiplied by sixty and divided by the difference of daily motions of the sun and moon, will result in the Sthiti (half duration) of the eclipse and Vimarda (half time of total of eclipse or obscuration).

In this way eclipses are described in details from start to end. In solar eclipse some situations are different. There comes Lambana, the parallax, and Nati. The reason of parallax is due to the different orbit of the sun and the moon. In lunar eclipse, the eclipser of the moon, shadow of the earth runs in the orbits of the moon. It means both bodies (eclipser and eclipsed) move in same orbit therefore, there is no possibility of parallax. In solar eclipse, the sun is moving in its orbit and the moon is moving in its own orbit and this cause a possible parallax. When sun and moon both are on meridian and if we look at it from the center of earth, then they will be seen as on a perpendicular line. When sun and moon are not on the meridian and are in between the meridian and horizon and if we look at it from the center of earth, they will be on a straight line but from the surface of earth if we observe, they will not appear in a perpendicular line even though they are. They look like they are different from each other. This difference of the sun and the moon is what is called the parallax. This parallax in the meridian is zero. On the horizon this parallax is the greatest. In the same way, Nati is least on the horizon and the greatest on the meridian. Once Nati and Lambana are calculated, then we can calculate solar eclipse in the same way as we have calculated the lunar eclipse.

Using this system, the Vedic astronomers were able to calculate the eclipses very accurately because there were minute differences in the moon and node calculations. However, recently there have been some significant differences in moon and node calculations. For this reason, the earlier calculations do not produce accurate result now a days. This was first noticed by Ganesha Daivajna[१] who made improvements in the formula to produce accurate results. He used Ahargana ( unit of the days) for calculation of eclipses and conjunction of the planets. Using his formula, one can easily calculate eclipses. If we know the true position of the sun, moon, and nodes and know the ending time of tithis, than it is very easy to make the calculations. For example:

The true sun at the ending time of purnima is 7, 13, 11, 54; Node is 7, 16, 45, 19; The node subtracted from the true sun.

7,13,11,54 - 7,16,54,52 = 11,26,26,35

12-11,26,26,35 = 0,3,33,25 = Bhuja

Bhujamsha = 3,33,25 this amount is less than $14^0$, it means lunar eclipse is possible.

Shara (latitude of the moon) = Bhujamsha ×11/7

3,3326 ×11 = 39,7,35 /7 = 5,35=Shara in Angula (south) (1)

True motion of the sun = 60, 53

According to rule[२]

60,53-55,00 = 5,53 5,53/5 = 1,10

1,10 + 10,00 = 11,10 = measurement of the sun disc in Angula (2).

१. सूर्यसिद्धान्त ४.१०-११

२. व्यसुशरगतिष्वंशो दिग्युग्भवेद्वपुरुष्णगोरथसितरुचो बिम्बं भुक्तियुगाचलभाजिता।।
तदपि हिमगोर्विम्ब त्रिघ्नं निजेशलवान्वितं विवसु भवति क्ष्माभाविम्बं किलाङ्गुलपूर्वकम्।।

In the same way the moon's true motion is 800,51. The moon's motion divided by 74, produce the measurement of the moon disc.

800,51 / 74 = 10.49 = Amount of the moon disc in Angula. (3)

Amount of Earth shadow = moon disc × 3 + multiplied disc / 11-8

According to this rule[१].

10,49 × 3 = 32,27     32, 27/11 = 2, 57

32, 27 + 2, 57 = 35,24 ;     35, 24 - 8,00 = 27,24 Amount of the shadow of the earth in Angula. (4)

In lunar eclipse shadow is eclipser and the moon's disc is eclipsed. Half of the sum of both diameters (manaikyardha) is subtracted by latitude Produce the amount obscure. i.e. :

Moon's disc = 10, 49 ; shadow disc = 27, 24

10, 49 + 27, 24 = 38, 13     38, 13/2 = 19,6 = Manaikyardha.

19, 6 - 5, 35 = 13, 31 = Amount of eclipse (obscure).

Here the amount of eclipsed body is smaller than the half of the sum of both diameter, therefore considered a total lunar eclipse. If one subtracts the amount of eclipsed body from the amount of eclipse, the remainder shows the pervaded extra part of sky (Khagrasa).

This system is very simple and accurate. This is also true that nowadays Grahlaghawa's finding is not minute but as I know, formulas are still correct. If we use the correct value of planets , result will be definitely correct.

---

१. छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभा छादकच्छाद्यमानैक्यखण्डं कुरु।

All these examples show those the calculations of planetary positions and all the eclipses are grounded and have been developed in Vedic literature. It is true that recently these calculations have come up short, but these can be adjusted by minor corrections in order to have accurate results. The sun's position does not need to be adjusted because it is still quite accurate. If these adjustment are done, then it is a monument of our ancestors and their legacy to the world.



# प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय



प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय का जन्म सं. १९९५ चैत्र शुक्ल १० बुधवार को वाराणसी मण्डल के धौरहरा ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम स्व. बलदेव पाण्डेय तथा माता का नाम स्व. कलावती देवी था। जन्म के ५ वर्ष बाद स्व. पोकू पाण्डेय उर्फ रूपनारायण पाण्डेय ने आपको दत्तक पुत्र के रूप में सविधि स्वीकार किया।

आपने अपने समय के ज्योतिष के मूर्धन्य विद्वान् स्व. पं. अवधबिहारी त्रिपाठी, स्व. पं. मीठालाल हिंमत राम ओझा तथा स्व. डॉ. मुरारीलाल शर्मा से त्रिस्कन्ध ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की।

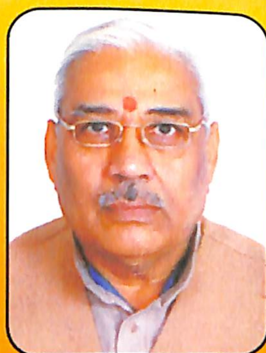
लगभग ५ वर्षों तक काशीराज न्यास में आपने पुराणों के प्रकाशन विभाग में सम्पादन कार्य किया, अनन्तर १९७३ में रा. सं. सं. के अन्तर्गत जम्मू में व्याख्याता पदभार ग्रहण किया। १९७९ में आप का चयन उपाचार्य (रीडर) पद पर हो गया। उसी समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में भी आपंको उपाचार्य पद प्राप्त हुआ।

सन् १९९१ में आपका चयन आचार्य (प्रोफेसर) ज्योतिष पद पर हुआ। आपने १७ वर्षों तक ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष तथा तीन वर्षों तक संकाय प्रमुख पद पर कार्य किया। सन् २००३ में आप सेवा निवृत्त हुए।

सन् २००६ में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर में दो वर्षों तक पीठाध्यक्ष, सवाई जयसिंह ज्योतिर्विज्ञान पीठ के सम्मानित पद पर भी आसीन रहे। आपने ज्योतिष की प्रायोगिक शिक्षा के लिए बहुत कार्य किया। आज भी आप लेखनी के माध्यम से ज्योतिष की सेवा में संलग्न हैं।

मुद्रक : रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड, कमच्छा, वाराणसी फोन नं. 0542-2455742

# प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय



प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय का जन्म सं. १९९५ चैत्र शुक्ल १० बुधवार को वाराणसी मण्डल के धौरहरा ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम स्व. बलदेव पाण्डेय तथा माता का नाम स्व. कलावती देवी था। जन्म के ५ वर्ष बाद स्व. पोकू पाण्डेय उर्फ रूपनारायण पाण्डेय ने आपको दत्तक पुत्र के रूप में सविधि स्वीकार किया।

आपने अपने समय के ज्योतिष के मूर्धन्य विद्वान् स्व. पं. अवधबिहारी त्रिपाठी, स्व. पं. मीठालाल हिंमत राम ओझा तथा स्व. डॉ. मुरारीलाल शर्मा से त्रिस्कन्ध ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की।

लगभग ५ वर्षों तक काशीराज न्यास में आपने पुराणों के प्रकाशन विभाग में सम्पादन कार्य किया, अनन्तर १९७३ में रा. सं. सं. के अन्तर्गत जम्मू में व्याख्याता पदभार ग्रहण किया। १९७९ में आप का चयन उपाचार्य (रीडर) पद पर हो गया। उसी समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में भी आपको उपाचार्य पद प्राप्त हुआ।

सन् १९९१ में आपका चयन आचार्य (प्रोफेसर) ज्योतिष पद पर हुआ। आपने १७ वर्षों तक ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष तथा तीन वर्षों तक संकाय प्रमुख पद पर कार्य किया। सन् २००३ में आप सेवा निवृत्त हुए।

सन् २००६ में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर में दो वर्षों तक पीठाध्यक्ष, सवाई जयसिंह ज्योतिर्विज्ञान पीठ के सम्मानित पद पर भी आसीन रहे। आपने ज्योतिष की प्रायोगिक शिक्षा के लिए बहुत कार्य किया। आज भी आप लेखनी के माध्यम से ज्योतिष की सेवा में संलग्न हैं।

मुद्रक : रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड, कमच्छा, वाराणसी फोन नं. 0542-2455742